हरिशंकर परसाई के व्यंग्यों में मध्यवर्ग का चरित्र

एम. फिल. (हिन्दी) उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध

शोध निर्देशक

डॉ. वीर भारत तलवार

शोधकर्त्ता

निरंजन कुमार सामरिया

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली–110067

2006

समर्पण

बड़े भाई को,

जिन्होंने मुझे कभी छोटे होने का अहसास नहीं होने दिया और...

CENTRE OF INDIAN LANGUAGES
SCHOOL OF LANGUAGE, LITERATURE& CULTURAL STUDIES
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI-110067

Dated : 28/07/2006

DECLARATION

I declare that the work done in this dissertation entitle " HARISHANKER PARSAI KE VYANGYON MEIN MADHYA VARG KA CHARITRA" (character of the middle class in satires of Harishanker parsai) by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other university/ institution.

NIRANJAN KUMAR SAMARIYA
(Research Scholar)

DR. VIR BHARAT TALWAR
(Supervisor)
CIL/SLL& CS/JNU

PROF. MOHD. SHAHID HUSAIN
(Chairperson)
CIL/SLL& CS/JNU

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

अपनी बात — I–IV

अध्याय–एक — 1–36

हरिशंकर परसाई का व्यंग्य साहित्य

1. व्यंग्य का स्वरूप
2. परसाई के व्यंग्यों का प्रतिपाद्य
3. परसाई के व्यंग्यों का वैशिष्ट्य

अध्याय–दो — 37–61

मध्यवर्ग की अवधारणा और भारतीय मध्यवर्ग

1. वर्गीकरण का आधार
2. मध्यवर्ग : पहचान और परिभाषा
3. यूरोप में मध्यवर्ग का उदय, विकास और भूमिका
4. भारत में मध्यवर्ग का उदय और कारण
5. औपनिवेशिक भारत में मध्यवर्ग

अध्याय–तीन — 62–103

हरिशंकर परसाई के व्यंग्यों में मध्यवर्ग का चरित्र

उपसंहार — 104–107

संदर्भ–ग्रंथ सूची — I–VI

अपनी बात

जैसा भी है, यह है मेरे द्वारा लिखा गया लघु शोध–प्रबंध। इसमें शोध जैसा चाहे कुछ न मिले; पर संतुष्टि इस बात से है कि इसके लिए मैने काफी मेहनत की है। इस मेहनत का ही नतीजा है कि मेरे इस लघु शोध–प्रबंध के अध्यायों के बढ़ते क्रम में कुछ गुणात्मकता देखी जा सकती है। इस लघु शोध–प्रबंध के अध्याय अलग–अलग समय में लिखे गए हैं, लगभग पाँच–छः महीने के अंतराल से। इस बीच अपने विषय पर जो कुछ भी थोड़ा बहुत सोच सका, वह इस लघु शोध–प्रबंध में है, फिर भी जो कोई भी इस शोध–प्रबंध को उठाकर पढ़ेगा, उम्मीद है पढ़कर उसे निराशा ही हाथ लगेगी।

वैसे तो शोध के लिए रचनाकार उतना महत्वपूर्ण नहीं होता, जितनी कोई समस्या। पर समस्या के साथ रचनाकार भी अनिवार्य रूप से जुड़ा ही होता है। उसे पीछे नहीं खिसकाया जा सकता है। फिर भी शोध तो लिखे हुए पर ही होगा और लिखा गया समस्यामूलक तो होगा ही। इसलिए महत्वपूर्ण समस्या है और समस्या पर ही शोध आधारित होना भी चाहिए। लेकिन जिस समय शोध–प्रबंध का विषय का चयन किया गया, उस समय मेरे सामने शोध के लिए कोई समस्या नहीं थी, सिर्फ रचनाकार था। यह रचनाकार था– हरिशंकर परसाई। पहले से ही उनके कुछ व्यंग्य संग्रह पढ़ रखे थे। बेहद प्रभावित हुआ। उनके व्यंग्य खूब हंसाते थे, मसखरेपन की हद तक। सोचा काम इसी पर होगा। इस बहाने उनकी आनंदित करने वाली रचनावली भी पढ़ लेंगे। ऐसा आज नहीं तब सोचता था। आज जो सोचता हूँ वह यह कि उस समय की मेरी ऐसी सोच और मेरे ऐसे दृष्टिकोण से निश्चित तौर पर हरिशंकर परसाई की आत्मा बेहद दुःखी हुई होगी। सोचा होगा कि मेरी मेहनत का, मेरी आकांक्षा का, मेरे दर्द का अच्छा सिला मिला। परसाई जी ने आगे यह भी सोचा होगा कि अच्छा होता, मैं कुछ न लिखकर स्कूल मास्टरी ही कर लेता, कम से कम मेरी भावनाएँ इतनी तिरस्कृत तो न होती। खैर, रचनावली पढ़ने के दौरान ही महसूस हुआ कि मुझमें आलोचनात्मक विवेक की भारी कमी है, इस कमी को परसाई के व्यंग्य साहित्य और अपने कुछेक मित्रों ने दूर किया। समय के साथ अपनी सतही समझ पर आलोचनात्मक विवेक हावी हो गया। यह जानकर मुझे अच्छा भी लगा।

तब? तब विषय के चयन में कोई ज्यादा परेशानी नहीं उठानी पड़ी। शोध का विषय बड़ी सहजता से प्राप्त हो गया। कोई मेहनत नहीं करनी पड़ी। बना–बनाया 'पक्का माल' मिल गया, जिसे खाने भर की देर थी। पर शोध के संदर्भ में यह सब कुछ इतना सहज, इतना आसान नहीं था। मेरा विषय था 'हरिशंकर परसाई के व्यंग्यों में

मध्यवर्ग का चरित्र'। जिस समय विषय का चयन किया गया, उस समय मध्यवर्ग की परिभाषा तक का पता नहीं था। अधिकांश शोधकर्ताओं की यही स्थिति है।

ऐसी स्थिति थी शुरुआत में। काफी बाद में परसाई के व्यंग्य और शोध के विषय की गंभीरता का अहसास हुआ। फिर भी क्या किया जा सकता है। आदमी में जितनी सामर्थ्य होती है, उतना ही वह कर सकता है। एकदम, चिंतन की परिपक्वता कहाँ से लाई जाए। जितना संभव था, किया।

इस शोध–प्रबंध में तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय– 'हरिशंकर परसाई का व्यंग्य साहित्य' शीर्षक से है, जिसमें सर्वप्रथम चर्चा व्यंग्य के स्वरूप पर की गई है। इसमें कुछ सवालों का जवाब देने की कोशिश की गई है, सवाल है– व्यंग्य क्या है, व्यंग्य की निर्मिति कैसे होती है, व्यंग्य के साथ हास्य का रिश्ता कैसा होता है और व्यंग्य की भाषा में तिलमिला देने का भाव कैसे और कहाँ से आता है। इसी अध्याय में आगे परसाई के व्यंग्य के लक्ष्य विषयों पर चर्चा की गई है। स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज का क्या रुख रहा, किन विकृतियों ने भारतीय समाज को जड़ बनाए रखा, निरंतर गहरी होती जाती समस्याएँ कौन सी हैं, इस पर चर्चा की गई है। प्रथम अध्याय के अंतिम भाग में हरिशंकर परसाई के व्यंग्यों के वैशिष्ट्य को उद्घाटित किया गया है। इस वैशिष्ट्य में इस सवाल का जवाब है कि परसाई के व्यंग्य में पाठक को विचलित कर देने की हद तक प्रभावकारी क्यों है।

द्वितीय अध्याय 'मध्यवर्ग की अवधारणा और भारतीय मध्यवर्ग' नाम से है। इस अध्याय में मध्यवर्ग का सैद्धांतिक विवेचन किया गया है। इस अध्याय में जिन सवालों का जवाब देने की कोशिश की गई, वे हैं– आधुनिक समाज का वर्गों में विभाजन क्यों, वर्ग विभाजन के निर्धारक तत्त्व कौन–कौन से माने जाएँ और क्यों माने जाएँ, क्या भारतीय मध्यवर्ग की पूर्णतः कोई 'मार्फोलॉजी' निर्धारित की जा सकती है, नहीं तो क्यों नहीं? और यदि हाँ तो कितनी? इस अध्याय में इस सवाल का भी जवाब देने की कोशिश की गई है कि भारतीय समाज के अंतर्विरोध किस तरह वर्ग–विभाजन में बाधा उत्पन्न करते हैं? आगे यूरोपीय मध्यवर्ग और भारतीय मध्यवर्ग के उदय और विकास और उसकी भूमिका पर चर्चा की गई है, साथ ही दोनों का तुलनात्मक अध्ययन भी।

पर फिर भी दूसरे अध्याय से मध्यवर्ग के स्वरूप को पूरी तरह से जाना नहीं जा सकता, पूरी तरह जानने के लिए तृतीय अध्याय का अध्ययन अपेक्षित होगा।दूसरा अध्याय मध्यवर्ग की केवल बाहरी पहचान को ही उद्घाटित करता है, उसकी मध्यवर्गीयता को नहीं। इस मध्यवर्गीयता के लिए ही तृतीय अध्याय का अध्ययन अपेक्षित है। दूसरे शब्दों में मध्यवर्ग की संस्कृति, उसकी मानसिकता और उसके आचरण तथा व्यवहार को तृतीय अध्याय में दर्शाया गया है। ये सारी चीजें उसका चरित्र भी निर्धारित करती हैं। इस अध्याय में मध्यवर्ग के चरित्र पर विस्तृत चर्चा है। मध्यवर्ग के चरित्र के

विभिन्न पहलुओं को इस अध्याय में देखा जा सकता है। यह मध्यवर्ग की आंतरिक प्रकृति है, जिसे हरिशंकर परसाई के व्यंग्यों के माध्यम से उद्‌घाटित किया गया है। इस तरह तृतीय अध्याय अपनी दोहरी भूमिका निभाता है।

ज्ञान के लिहाज से मध्यवर्ग का अध्ययन मेरे लिए बेहद महत्वपूर्ण साबित हुआ। इसी के माध्यम से मैंने पूँजीवाद और सामंतवाद को समझने की कोशिश की और दोनों के प्रति रुचि भी जागृति हुई। इसके अलावा मार्क्स के इस विचार, कि 'सामंतवाद के गर्भ से पूँजीवाद का उदय हुआ' ने विज्ञान की ओर मुझे झुकने को विवश किया। इसका परिणाम यह निकला कि विज्ञान के प्रति मेरी रुचि ज्यादा बढ़ गई। लेकिन इन सबकुछ के लिए अगर किसी को श्रेय जाता है तो वे हैं मेरे शोध–निर्देशक डॉ. वीरभारत तलवार। जिस समय मैं अपने शोध का विषय लेकर उनके पास गया, उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण मशवरे दिए और शोध का यह विषय सीधे स्वीकार कर लिया। सोचता हूँ कि शोध का यह विषय स्वीकार न किया जाता तो संभवतः मेरी रुचियाँ इस तरह नहीं फैल पातीं।

इतने ही श्रेय के पात्र कवितेंद्र इन्दु भी हैं। वे मेरे 'जस्ट सीनियर' हैं। इन्होंने ही मुझे शोध का यह विषय सुझाया और जब चाहा, तब मेरा मार्गदर्शन भी किया। इनके पास चीजों की स्पष्ट और गहरी समझ है। इनका मैंने भरपूर फायदा उठाया। सोचने का बहुत कुछ शऊर मैंने इन्हीं से पाया है। अन्य मित्रों में गंगा सहाय, जयसिंह, केदार प्रसाद मीणा, सत्यार्थ, किंगसन, जयकौशल, रविकांत आदि हैं। इनसे भी अधिकांशतः विचारों का आदान–प्रदान होता रहा है। बहुत सहायता मिली है इन सब लोगों के विचारों से। अंतिम समय में सूरज और विनोद भी बहुत काम आए। जिन अन्य लोगों ने न केवल पुस्तकों के नाम बताकर, अपितु पुस्तकें सौंपकर मेरी सहायता की, उनमें भरत कुमार, लोकेश कुमार और अभय कुमार हैं। इनमें प्रथम दो मेरे सीनियर हैं और अंतिम गुरुभाई।

अनिल का काम इन सबसे अलग रहा और बेहद महत्वपूर्ण भी। इस लघु शोध–प्रबंध को टाइप करने का जिम्मा उन्होंने अपने ऊपर लिया। जब कहा, तब टाइप की। कभी गुस्सा नहीं हुए। कभी–कभी तो जबरदस्ती पकड़कर टाइप कराने ले जाते और कहने लगते– 'अब तुम बोलो, मैं टाइप करता हूँ'। गणपत ने भी अंतिम समय में बहुत मदद की। हालाँकि अभी नए हैं, टाइप थोड़ा धीमा करते हैं, लेकिन बहुत–बहुत देर तक कम्प्यूटर के सामने बैठकर सहायता कर सकते हैं और करते भी हैं।

मेरे अनुज ओमप्रकाश ने कोई सहायता नहीं की। बस, मुझे पढ़ते हुए देखकर वह भी अपनी पढ़ाई में तल्लीन हो जाता।

अंत में चर्चा के तौर पर रह जाती है मेरी 'लापरवाही'। एम. फिल. का समय मेरे लिए भयानक लापरवाही का समय रहा है। कोई भी अध्याय समय पर जमा नहीं

करवाया। इस लापरवाही के कारण बहुत बार मुझे अपने शोध निर्देशक की सख्त डाँट खानी पड़ी है। इस सख्त डाँट से मुझे फायदा भी बहुत हुआ। इस समय मेरी एम.फिल. खत्म हो गई, पर लापरवाही खत्म नहीं हुई। इस लापरवाही के अपने कारण हैं। जानता हूँ कि यह लापरवाही अभी खत्म नहीं होगी, पी. एचडी में इसका और भीषण रूप देखने को मिलेगा।

निरंजन कुमार सामरिया

अध्याय–एक

हरिशंकर परसाई का व्यंग्य साहित्य

1. व्यंग्य का स्वरूप
2. परसाई की व्यंग्यों का प्रतिपाद्य
3. परसाई के व्यंग्यों का वैशिष्ट्य

हरिशंकर परसाई स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य के सर्वाधिक प्रतिष्ठित रचनाकारों में से एक हैं। व्यंग्य लेखन उनकी प्रतिष्ठा का आधार है। व्यंग्य लेखन के क्षेत्र में जितनी लोकप्रियता उन्हें मिली है, किसी अन्य व्यंग्यकार को नहीं। उनके व्यंग्य लेखन की अपनी कुछ विशिष्टताएँ हैं, कुछ ऐसी विलक्षणताएँ हैं जो उनके व्यंग्यों को बेहद प्रभावशाली बनाती हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत का व्यापक यथार्थ हरिशंकर परसाई के व्यंग्य–साहित्य में देखने को मिलता है। उनका यह यथार्थ विसंगतियों और विषमताओं वाला यथार्थ है और इस पूँजीवादी व्यवस्था में घटित होने वाले अमानवीय और शोषणकारी रूप का यथार्थ है; यही कारण है कि परसाई जी ही नहीं, अपितु तमाम व्यंग्यकारों पर एक आरोप लगाया जाता है कि इनको समाज में सिर्फ नकारात्मक ही नकारात्मक नजर आता है, समाज में सकारात्मक जैसे कुछ है ही नहीं। लेकिन यह आरोप निराधार है। ऐसे लोगों को व्यंग्य की आलोचनात्मक सामाजिक भूमिका को समझना चाहिए। व्यंग्य में केवल नकारात्मकता या विसंगतता नहीं होती। विद्रूपताओं से भरे इस यथार्थ की विशिष्टता यह है कि इसमें केंद्रीयता विद्रूपताओं को ही प्रदान की जाती है, पर विद्रूपताएँ निरपेक्ष नहीं हैं। व्यंग्य विद्रूपताओं को केंद्र में रखते हुए भी समाज का वृहत्तर यथार्थ प्रस्तुत करता है। उनके व्यंग्य–साहित्य पर चर्चा करने से पहले हम व्यंग्य के स्वरूप पर कुछ चर्चा करना चाहेंगे।

1. व्यंग्य का स्वरूप

सामान्यतः जब हम 'व्यंग्य' शब्द का इस्तेमाल करते हैं, तो उस तीक्ष्ण प्रहारात्मक चोट के अर्थ में करते हैं जो समाज के किसी विसंगत या विषम रूप पर की गई होती है तथा जो विद्रूप के प्रति व्यक्ति की चेतना में आक्रोश पैदा करती है। इस चोट के मूल में व्यंग्य करने वाले व्यक्ति के पीड़ित होने का भाव निहित रहता है। अर्थ के इस इस्तेमाल में कथन–शैली पीछे छूट जाती है और रह जाती है केवल व्यंग्य की मारकता। हरिशंकर परसाई इसे "तीव्रतम क्षमतावाली व्यंजनात्मकता"[1] का नाम देते हैं अर्थात तीव्र गति से पाठक तक विकृति– बोध का पहुँचना। लेकिन जरूरी नहीं कि ऐसा प्रत्येक व्यंग्य रचना में हो ही। बहुत बार ऐसा होता है कि व्यंजनात्मकता न होने के बावजूद व्यंग्यकार द्वारा स्थितियों का ऐसा वातावरण रचा जाता है कि जिससे व्यंग्य पैदा होता है और जो कि पाठक के गहरे में उतर उसे उदास, क्षुब्ध कर देने वाली स्थिति में डुबो देता है। पर यह भी प्रस्तुतीकरण का एक तरीका है।

व्यंग्य के संबंध में जो वास्तविकता है वह प्रस्तुतीकरण के ढंग या कथन–शैली ही है। हम जानते हैं कि अगर यह कथन–शैली न होती, तो चेतना पर पड़ने वाले प्रभाव का रूप चाहे जैसा रहता, तीक्ष्ण प्रहारात्मक क्षमता का रूप तो नहीं ही होता। सवाल

यह है कि इस कथन–शैली का ऐसा कौनसा रूप है जो पाठक पर इतना गहरा प्रभाव डालता है ? इसका सबसे आसान जवाब यह है कि व्यंग्य करते समय भाषा का वही रूप नहीं होता, जो हम सामान्यतः व्यवहार में इस्तेमाल करते हैं। बात को सीधे न कहकर कुछ टेढ़ा बनाकर कहा जाता है। भाषा के ऐसे रूप में वचन–वक्रता होती है और वाग्वैदग्ध्य भी। इस विशिष्टता को रेखांकित करते हुए व्यंग्यकार शंकर पुणतांबेकर ने कहा है कि "व्यंग्य युग की विसंगतियों की वैदग्ध्यपूर्ण तीखी अभिव्यक्ति है।"[2] जाहिर सी बात है, यह 'वैदग्ध्यपूर्ण तीखी अभिव्यक्ति' भाषा के माध्यम से ही व्यक्त होती है जो वचन–वक्रता का बाहरी रूप होती है। भाषा का यह रूप व्यंग्य रचना में इतना व्याप्त रहता है कि व्यंग्यकार सुदर्शन मजीठिया ने तो यहाँ तक कहा है कि "यह भाषा उसकी शैली ही है।"[3] उनकी इस मान्यता में थोड़ी भी अतिशयता नहीं है। व्यंग्य की भाषा को यह महत्व प्रदान करना ठीक ही है। लेकिन सवाल फिर खड़ा होता है कि भाषा तो किसी बात को कहने का, उसको अभिव्यक्त करने का माध्यम है, व्यंग्य की अभिव्यक्ति के मूल में जो बात देखने को मिलती है, वह है– परस्पर विरोधी स्थितियों का टकराव और द्वंद्व। इन विरोधी स्थितियों में सादृश्य–संबंध स्थापित किया जाता है। इस सादृश–संबंध में एक तरह का खेल खेला जाता है। पहले यथार्थ स्थिति रख दी जाती है, फिर उससे विरोध पैदा करने वाली दूसरी स्थिति रख दी जाती है। इस प्रक्रिया में समानता का आभास भी कराया जाता है और उस समानता का भ्रम भी पैदा किया जाता है। इसमें ऐसा होता है कि व्यंग्यकार जिस स्थिति को प्रस्तुत करना चाहता है, उस स्थिति के लिए उसकी विरोधी स्थिति के शब्द को रख देता है। इससे अर्थ का चमत्कार भी पैदा होता है और विसंगति का उद्घाटन भी। इस संबंध में एक उदाहरण देखा जा सकता है– 'हमारे यहाँ आजादी के पच्चीस वर्ष बाद भी स्त्री के लिए पत्नी का पद सबसे सुरक्षित जीविका है।' इस उदाहरण में 'पत्नी का पद' ध्यान देने योग्य है। ऐसी स्थिति के बाद व्यंग्यकार के प्रस्तुतीकरण या अभिव्यक्ति के रूप में सपाटपन भी आता है तो वह विशुद्ध सपाटपन नहीं रहता; क्योंकि इस सपाटपन को उस वक्रता के संदर्भ में ही देखना होता है, उससे अलग करके नहीं देखा जा सकता। व्यंग्य की इस प्रक्रिया में पहली स्थिति नकारात्मक होती है, अमानवीय होती है, बुराई या शोषण के किसी रूप की झाँकी होती है तो उसके साथ रखी जाने वाली दूसरी स्थिति सकारात्मक होती है, गुणात्मक होती है। व्यंग्य के संबंध में यह बता देना जरूरी है कि "व्यंग्य विषमता या विरूपता से उत्पन्न होता है। विषमता सुषमा या औचित्य की विरोधी है। जो होना चाहिए वह न होने पर या जो नहीं होना चाहिए, उसके होने पर विरूपता होती है।"[4] इस प्रकार जहाँ विरूपता नहीं होगी, वहाँ व्यंग्य भी नहीं होगा।

जीवन के किसी भी क्षेत्र में व्याप्त विरूपता को व्यंग्य अपना शिकार बनाता है। वह मानव मूल्यों के लिए लड़ाई लड़ता है। जहाँ वह मूल्यों में किसी भी तरह का ह्रास

देखता है, वहीं वह अपना रंग दिखाने लगता है। जब स्थितियाँ ऐसी हों, तब व्यंग्य की प्रवृत्ति के आधार पर एक स्थिति को उसकी विरोधी स्थिति के नजदीक लाता है। उन्हें एक–दूसरे से जोड़ता है। इसमें सादृश का भ्रम भी होता है और विरोध भी। सादृशता के भ्रम का बोध भी विरोध की प्रवृत्ति से ही होता है। इस प्रक्रिया में शब्दों के ठीक चुनाव के अभाव में व्यंग्य अपनी प्रहारात्मक क्षमता खोने लगता है।।

विरोध पैदा करने में शब्द, पदबंध जैसी भाषिक इकाइयों का इस्तेमाल किया जाता है। भाषिक इकाइयों की यह ताकत सिर्फ शिल्प–सिद्धि के समय ही नजर आती है। ये भाषिक इकाइयाँ एक स्थिति की विरोधी स्थिति का निर्माण करने में सक्षम होती हैं। भाषिक वकता की निर्मित के "इस प्रयत्न में वह (व्यंग्यकार) ध्वनि पद, वाक्य आदि सभी भाषिक इकाइयों के साथ खिलवाड़ करता है, उन्हें तोड़ता–मरोड़ता है। वह परस्पर विरोधी शब्दों को एक साथ जोड़कर निंदा करने योग्य व्यक्तियों व स्थितियों की प्रशंसा करके उससे उत्पन्न होने वाले नए अर्थ की ओर इंगित करता है। आवरण में छिपे हुए पाखण्ड का पर्दाफाश करने के लिए व्यंग्यकार जब भाषा से जूझता है, तो भाषा की सामान्य संरचना टूट जाती है और उसकी भाषा एक विशेष प्रकार की अर्थशक्ति ग्रहण करती है जो पाखण्ड पर चोट करती हुई, उसे चीरती हुई निकलती है।"[5] इस प्रकार भाषिक इकाइयों का यह खिलवाड़ विरूपता की असलियत को सामने रखने के लिया किया जाता हैं। यह कार्य एक वाक्य में भी प्रस्तुत किया जा सकता है और एक पूरे प्रसंग में भी। यह वक्रता, जरूरी नहीं कि व्यंग्य रचना के प्रत्येक वाक्य में हो ही। बहुत बार ऐसा होता है जब एक प्रसंग अपनी यथार्थ स्थिति में प्रस्तुत कर दिया जाता है और फिर व्यंग्यकार अंतिम पंक्ति को इस तरह वक्र बनाकर प्रस्तुत करता है कि शुरू का पूरा (यथार्थ) प्रसंग एक वाक्य की वक्रता से झंकृत हो जाता है। अर्थ के इस चमत्कार के बाद पैदा होता है व्यंग्य। यह "व्यंग्य एक ओर आक्रोश, घृणा उत्पन्न करता है तो दूसरी ओर करुणा, अपनापा और सम्मान।"[6] व्यंग्य मनोविकारों को तीव्रता से पैदा करने में सर्वाधिक सहायक है।

इस भाषिक वक्रता की एक बड़ी विशेषता तो यही होती है कि इसमें विषय को सपाट ढंग से अर्थात् सीधे और अभिधापरक अर्थ में प्रस्तुत नहीं किया जाता है। प्रधानतः जो बात कहनी होती है, उसे स्पष्ट रूप से कहा नहीं जाता। बात को इस तरह वक्र बनाकर कहा जाता है कि शब्दों में संप्रेषित मूल अर्थ से पाठक परिचित हो जाता है। यह तरीका लक्षणा और व्यंजना का है। मूल अर्थ के संप्रेषण में ये दोनों शब्द शक्तियाँ सहायक होती हैं। किसी भी विसंगति की असलियत और व्यंग्य की 'तीव्रतम क्षमताशाली व्यंजनात्मकता' लक्षणा और प्रधानतः व्यंजना से ही प्राप्त होते हैं।

इस रूप में व्यंग्य की भाषा दो तरह का यथार्थ रचती है– एक भाषा का बाहरी यथार्थ और दूसरा व्यंजित होने वाला आंतरिक यथार्थ। व्यंग्य में महत्व इस आंतरिक

यथार्थ का ही होता है। यही प्रधान है। लेकिन इस आधार पर भाषा के बाहरी यथार्थ की अवहेलना नहीं की जा सकती। व्यंजित होने वाला आंतरिक यथार्थ भाषा के बाहरी यथार्थ पर ही अवलम्बित है, वह इसका आधार है। महत्व दोनों का समान है। डॉ. नामवर सिंह व्यंग्य के लिए जिस "भाषा का बाँकपन"[7] पदबंध का प्रयोग करते हैं, उसमें भी दोनों तरह के यथार्थ की व्यप्ति के संकेत मिलते हैं। भाषा के बाँकपन के इस यथार्थ से हमारा गौरव अभिव्यक्त होता है, हम महान माने जाते हैं, दूसरों को तुच्छ समझते हैं, लेकिन वास्तविकता कुछ और ही होती है। बात जिस तरीक से प्रस्तुत की जा रही है, वास्तविकता इसके उलट होती है। प्रस्तुतीकरण के इस तरीके के लिए 'व्याज–निंदा' शब्द का इस्तेमाल किया जाता है। प्रस्तुतीकरण का तरीका इसके ठीक उलट हो, यानी अभिधा से निंदा का बोध और व्यंजना से प्रशंसा का, तो इसके लिए 'व्याज स्तुति' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार इस वक्र शैली में कहीं निकृष्ट बात को उत्कृष्ट बनाकर कहा जाता है और कहीं उत्कृष्ट को निकृष्ट।

व्यंग्य की अभिव्यक्ति शैली में जहाँ "कहीं गुणों को अवगुणों के रूप में और कहीं अवगुणों को गुणों के रूप में चित्रित"[8] किया जाता है, वहाँ कुछ और बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहले कहा गया कि व्यंग्य विरूपता से पैदा होता है, विरूपता के इस प्रस्तुतीकरण में आलोचना और अतिशयोक्ति की प्रवृत्ति विद्यमान होती है। आलोचना इस रूप में होती है कि वह इस बात का उद्‌घाटन करती है कि सही क्या है और गलत क्या हैद्य किसी भी तरह का कार्य गलत है, तो क्यों है, आलोचना उस विरूपता की निरर्थकता का बोध कराती है और मानवीयता एवं सामाजिक संदर्भ में उसकी अनुपयोगिता का भी। यह सब कार्य आलोचना में समाहित व्यंग्यकार की तर्कणा शक्ति करती है। व्यंग्य में कहीं–कहीं यह आलोचना दूरदर्शी होती है, संभावना की तरफ संकेत करती है और व्यंग्यकार की आकांक्षा को भी दर्शाती है। वह दूर तक की खबर रखती है। कोई प्रवृत्ति स्वयं तो विरूप है ही, यह किन अन्य रूपों को विरूप कर सकती है, इसकी खोजबीन भी इस आलोचना का कार्य है। मलय इस आलोचना की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए कहते हैं– "इसमें एक ओर तो प्रहार करने की तीव्रता अपने प्रबलतम रूप में तो होती ही है, लेकिन विशिष्टता यह होती है कि इसके प्रहार कुछ आवरणों की ओट में किए जाते हैं कि हास्यास्पद संपूर्ण रूप से निरावरण हो, लोगों के समक्ष मुँह दिखाने लायक नहीं रहता।"[9]

ऐसा ही महत्व अतिशयोक्ति का भी व्यंग्य में होता है। अतिशयोक्ति के मूल में अतिशयता है, जिसमें किसी बात को बढ़ा चढ़ाकर कहा जाता है। ऐसा होने पर भी स्थिति हास्यास्पद नहीं होती। यह अतिशयोक्ति ही है कि किसी निकृष्ट कर्म को और निकृष्ट रूप प्रदान करती है, लेकिन अर्थ केवल उतना ही व्यंजित होगा जितना कि संबंधित बात को सामान्य और सपाट ढंग से कहने पर होता। निश्चय ही "व्यंग्य चेतना

का यह उपक्रम लक्ष्य के ताप के सिवाय और कुछ नहीं।"[10] व्यंग्य की प्रहारात्मक क्षमता के साथ इसका गहरा संबंध है। व्यंग्य में जहाँ किसी बात को बिगाड़कर कहा जाता है, उसे अन्यथा रूप प्रदान किया जाता है, वहाँ कला होती है, सौंदर्य की सृष्टि होती है, विडम्बनाओं की तरफ संकेत होता है, साथ ही विडम्बनाओं के आभ्यंतरित रूप का निर्मम अनावरण भी।

व्यंग्य के संबंध में हास्य की चर्चा आम है। व्यंग्य का रूप ही कुछ इस प्रकार रहा है कि उसमें हास्य किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता ही है। वैसे कुछ व्यंग्य रचनाएँ इस प्रकार की देखी जा सकती हैं जिनमें हास्य लेशमात्र भी नहीं रहता। जिस भाषिक वकता से व्यंग्य निःसृत होता है उसी से हास्य भी पैदा होता है, वहाँ व्यंग्य और हास्य एकसाथ जुड़े रहते हैं। यह प्रस्तुतीकरण का एक ढंग है, जिससे मुख्यतः व्यंग्य की मारकता का बोध होता है और हास्य भी अनायास ही फूट पड़ता है। दोनों एक दूसरे में गुथे रहते हैं, लेकिन आगे जाने पर हास्य पीछे छूट जाता है और व्यंग्य की गंभीरता और मारकता निरंतर बनी रहती है। जहाँ व्यंग्य और हास्य एक साथ पैदा होते हैं वहाँ व्यंग्यकार का मुख्य उद्देश्य व्यंग्य करना ही होता है। व्यंग्य में ऐसा भी देखने में आता है जब व्यंग्यकार किसी बात को इस तरह प्रस्तुत करता है कि व्यंग्य भी पैदा हो और हास्य भी। यहाँ व्यंग्यकार द्वारा व्यंग्य और हास्य सायास पैदा किए जाते हैं। कहना चाहिए कि व्यंग्य हास्य की चाशनी में मिलाकर या सानकर भी प्रस्तुत किया जाता है। व्यंग्य और हास्य को एक साथ पैदा करने का यह दूसरा रूप है। यहाँ भी प्रधानता व्यंग्य की ही रहती है और हास्य गौण ही रहता है। वह केवल सहयोगी की भूमिका निभाता है।

यह सर्वविदित है कि व्यंग्य और हास्य दो अलग–अलग चीजें हैं। दोनों के उद्देश्य, दोनों के सरोकार अलग–अलग हैं। हरिशंकर परसाई के शब्दों में "सच्चा व्यंग्य जीवन की समीक्षा होता है। वह मनुष्य को सोचने के लिए बाध्य करता है। अपने से साक्षात्कार कराता है। चेतना में हलचल पैदा करता है और जीवन में व्याप्त मिथ्याचार, पाखंड, असामंजस्य और अन्याय से लड़ने के लिए उसे तैयार करता है।"[11] लेकिन "हास्य का उद्देश्य मनोरंजन होता है। इस हास्य में खोट, मैल, द्वेष नहीं होना चाहिए।"[12] मैल रहित या द्वेष रहित हास्य रचनाओं की बड़ी विशेषता यह होती है कि यह हँसाने का कार्य करती है, जिससे मनोरंजन होता है। ऐसी रचनाओं में सृजनात्मकता रहती है, एक तरह की कला होती है। हास्य की मनोरंजकता का महत्व स्थापित करते हुए राजेश कुमार ने कहा है कि "मनोरंजकता रचना का लक्ष्य न होकर एक गुण ही हो सकती है जो उसे पाठ्य बनाती है।"[13]

लेकिन व्यंग्य के साथ जो हास्य मिला होता है उसका उद्देश्य सिर्फ मनोरंजन करना नहीं होता। यह हास्य हास्य–रचनाओं के हास्य से भिन्न होता है। व्यंग्य में आदि से

अंत तक हास्य होता भी नहीं। यह हास्य दूसरे भी गंभीर कार्य करता है। भाषिक वक्रता में व्यंग्य के साथ "हँसी जरूर आती है, पर यह हँसी और किस्म की होती है और सोचने को बाध्य करती है।"[14] इससे हास्य के गंभीर कर्म का सहज अंदाजा लगाया जा सकता है। सवाल उठता है कि यह हँसी सोचने को बाध्य किस प्रकार करती हैध् इसका जवाब होगा कि हास्य केवल "व्यंग्य का उपस्कारक"[15] अर्थात केवल सजाने–सँवारने वाला नहीं होता; अपितु व्यंग्य में जो विसंगतियों पर प्रहार होता है, उसमें या उसकी प्रहारात्मक क्षमता में और ज्यादा वृद्धि करता है। इसका पाठक के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ता है। यह दोहरी मार है– एक व्यंग्य की और दूसरी हास्य की।

यह हास्य कभी–कभी बेहद कटु रूप धारण कर लेता है। यह हास्य, उपहास का ऐसा रूप धारण कर लेता है जिसमें व्यक्ति के प्रति तो कोई दुर्भावना नहीं होती, लेकिन कुप्रवृत्तियों की ऐसी तीखी आलोचना होती है कि संबंधित व्यक्ति तिलमिला जाता है। व्यक्ति, जो इन विसंगतियों का पोषण कर रहा है, वह व्यंग्य और उपहास के प्रहार से बच नहीं सकता। यह स्थिति हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस कथन में देखी जा सकती है– "व्यंग्य वह है जहाँ कहने वाला अधरोष्ठों से हँस रहा हो और सुनने वाला तिलमिला उठा हो, फिर भी कहने वाले को जवाब देना अपने को और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो।"[16] अधरोष्ठों से हँसना कुछ और नहीं उपहास की स्थिति ही है। उपहास में व्यक्ति को चिढ़ाने का भाव रहता है पर यह भाव ईर्ष्या या द्वेष प्रेरित नहीं होता।

यहाँ एक बात की तरफ ध्यान देना जरूरी है। व्यंग्य करने वाला व्यंग्य करते समय अधरोष्ठों से हँसे ही यह जरूरी नहीं। व्यंग्यकार ज्यादातर बेहद क्षुब्ध होकर व्यंग्य करता है। ऐसे समय उस क्षुब्धता के मूल में करुणा की अंतरधारा सत्त प्रवाहमान रहती है।

इस प्रकार व्यंग्य भाषिक वक्रता द्वारा मनुष्य की मूर्खताओं, विडम्बनाओं और तमाम तरह की विरूपताओं के आभ्यंतरिक रूप का निर्मम अनावरण करता है। निर्ममता का यह बोध भाषा के व्यंजनात्मक रूप से प्राप्त होता है। व्यंग्य की भाषा "साफ चोट करने वाली भाषा"[17] होती है और शैली "अत्यंत तेज प्रकाशन भंगी।"[18]

2. परसाई के व्यंग्यों का प्रतिपाद्य

हरिशंकर परसाई स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य के एक महत्वपूर्ण रचनाकार हैं। उन्होंने स्वतंत्रता के बाद के जीवन की प्रायः सभी विसंगतियों को आधार बनाकर अपने व्यंग्य लिखे हैं। उन्होंने विसंगतियों के प्रति आक्रामक रुख अख्तियार किया है, उन पर चोटें की हैं। उन्होंने अपने व्यंग्य के माध्यम से बहुत सारे पाठकों को यह दिखाया कि

जीवन के किन क्षेत्रों में कैसी–कैसी विसंगतियाँ हैं और वे मानव जीवन के लिए क्यों घातक हैं, उनसे समाज किस तरह विकृत होता जा रहा है और यदि स्थिति यही रही तो आगामी समय में समाज की क्या स्थिति हो सकती है। जीवन की प्रायः हर विसंगति पर उन्होंने अपनी नजर दौड़ाई, अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से उनका विश्लेषण किया। हरिशंकर परसाई की मूल चिंता 'मूल्यों का विघटन' है और आकांक्षा है एक बेहतर व्यवस्था की निर्मिति। ऐसी व्यवस्था की निर्मिति जिसमें हर एक को महत्व दिया जाए। उनकी दृष्टि में ऐसी व्यवस्था आज के समय के विद्यमान पूँजीवादी व्यवस्था नहीं हो सकती। वे इस बात को बखूबी जानते थे कि सामंती समाज व्यवस्था से पूँजीवादी व्यवस्था चाहे बदली हुई हो, पर यह भी शोषण पर आधारित व्यवस्था है। हरिशंकर परसाई का लेखन–कर्म देश के आजाद होने के कुछ महीने बाद से शुरू होता है। जिस समय देश पराधीन था और उपनिवेश का अंतिम दौर था, वे उस समय की गतिविधियों से परिचित थे। वे देश के लोगों की आकांक्षाओं से वाकिफ थे, जिसके मूल में उनके कुछ सुंदर सपने थे। यद्यपि उपनिवेशवाद के अंतिम दौर में देश की साधारण जनता ब्रिटिश हुकूमत से संघर्ष कर रही थी, किंतु आन्दोलन की कमान सीधे मध्यवर्ग के हाथों में थीं। यह वर्ग भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से जुड़ा था। पराधीनता के अंतिम दौर तक इस वर्ग के एक हिस्से में देश के लिए कुछ कर गुजरने की तमन्ना थी। यह तमन्ना चाहे छोटे स्तर पर रही हो। देश की आजादी के बाद राजनीतिक सत्ता पर आसीन लोग इसी वर्ग से थे। जनता को उन पर अपार विश्वास था, इस बात का विश्वास कि देश और देश के लोगों का विकास होगा और वे अच्छी स्थिति में होंगे, लेकिन जल्दी ही उन आदर्शों से जनता का मोह भंग हो गया।

एक अच्छी व्यवस्था के लिए मानव समाज मूल्यों की रचना करता है। क्या सही है और क्या गलत, सत्य क्या है और असत्य क्या है, क्या वांछित है और क्या अवांछित; यह सब मूल्यों से ही निर्धारित होता है। मूल्य स्थिर नहीं होते हैं, समय के साथ वे भी बदलते रहते हैं। समाज के विकास के साथ मूल्यों में भी परिवर्तन होता है। एक समय समाज जिन मूल्यों को बेहद जरूरी मानता है, आगे के समय में वे पुराने भी हो सकते हैं और निरर्थक भी, पर समाज उन्हें अपने से चिपकाए रहता है। बहुत से मूल्यों के मूल में शोषण की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। ऐसे मूल्यों के विरोध में दूसरे मूल्य भी पनपते हैं। मूल्य प्रगतिशील भी होते हैं और प्रतिक्रियावादी भी। हरिशंकर परसाई प्रगतिशील जीवन मूल्यों के कट्टर पक्षधर और प्रतिक्रियावादी जीवन मूल्यों के घोर विरोधी थे। परसाई के व्यक्तित्व के इन रूपो को उनके व्यंग्यों में स्पष्ट देखा जा सकता है। मूल्यों के मूल में नैतिकता, आदर्श और मानवीयता की भावना होती है। उन्होंने मानवीयता के विरोध में जाने वाले हरेक विचार और मानव व्यवहार पर आक्रामक प्रहार किए हैं। वैसे तो दुनिया के तमाम समाजों में शोषणकारी ताकतें विद्यमान रहीं हैं, लेकिन इस देश की

स्थिति कुछ भिन्न रही है। दुनिया के अन्य किसी देश में वर्ण व्यवस्था नहीं रही पर इस देश ने बहुत पहले यानी हजारों वर्ष पहले यह महान आविष्कार कर दिखाया। यह आविष्कार मानवीयता का हत्यारा है। यह ब्राह्मणीय जीवन मूल्य है जो लंबे समय से चला आ रहा है। ऐसे रूढ़ और प्रतिक्रियावादी जीवन मूल्यों की घोर आलोचना परसाई के व्यंग्यों में देखने को मिलती है।

हरिशंकर परसाई ने सबसे ज्यादा व्यंग्य राजनीति विसंगतियों को आधार बनाकर लिखे हैं। स्वतंत्रता के बाद की भारतीय राजनीति का रूप जितने व्यापक स्तर पर परसाई जी के यहाँ देखने को मिलता, उतना किसी दूसरे रचनाकार के यहाँ नहीं। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जितने राजनीतिक दल प्रमुखता से उभरकर सामने आए, भारतीय राजनीति में उनकी क्या स्थिति रही, किन मोड़ों से राजनीति गुजरी। इन सबका जीवंत रूप परसाई जी के व्यंग्य हैं। प्रत्येक राजनीतिक दल के अपने सिद्धांत हैं पर जो कार्य उनके द्वारा किए जा रहे हैं, वे उन सिद्धांतों के एकदम विपरीत हैं। सिद्धांत और व्यवहार के बीच का यह अंतर्विरोध परसाई जी के व्यंग्य के निशाने पर रहे हैं। सभी राजनीतिक दलों और उनके कार्यकर्ताओं के जनविरोधी चरित्र को गहराई से उनके व्यंग्यों में देखा जा सकता है। उन्होंने अपने व्यंग्य के माध्यम से लोगों में राजनीतिक चेतना पैदा की। जनता को हर तरीके से लुभाने की कोशिश इन राजनीतिक दलों द्वारा की गई है। इन राजनीतिक दलों में कांग्रेस और जनसंघ प्रमुख रहे हैं। आरंभ में एक वामपंथी धारा के निकट रहा, तो दूसरा दक्षिणपंथी विचारधारा से सम्बद्ध। भारतीय राजनीति में जो राजनीतिक दल सर्वाधिक सत्तासीन रहा, वह कांग्रेस है। जनसंघ लगातार कांग्रेस की नीतियों का आलोचना करता रहा है। आजादी से पूर्व और उसके बाद के इसके चरित्र में कोई बदलाव नहीं आया। सत्तापक्ष के अच्छे और बुरे दोनों कार्यों की विपक्ष द्वारा आलोचना की जाती रही है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति में विपक्ष का यही चरित्र रहा है। स्वतंत्र भारत के आरंभिक दिनों में राजनीतिक विसंगतियाँ अपेक्षाकृत कम रहीं। जवाहरलाल नेहरू के प्रधानमंत्रीत्व काल में राजनेताओं का राष्ट्र के प्रति भावनात्मक लगाव था और देश के विकास की तीव्र आकांक्षा भी। नेहरू जी समाजवादी थे और ऐसी व्यवस्था की कामना करते थे जिसमें निर्धन जनता का शोषण न हो। इस दौरान कांग्रेस के भीतर कुछ स्वार्थी राजनेता भी थे जो आरंभ में नेहरू जी के प्रभावशाली व्यक्तित्व के सामने अपने मंसूबों में कामयाब न हो सके। नेहरू के बाद कांग्रेस का चरित्र बदला, उसकी नीतियाँ बदली और धीरे–धीरे सत्ता प्राप्ति ही उसका मुख्य ध्येय बन गया। इसी समय भारतीय राजनीति के पटल पर कुछ नए राजनीतिक दलों का आविर्भाव हो रहा था। इन दलों के अधिकांश राजनेता कांग्रेसी ही थे। इनमें पद प्राप्ति की चौतरफा होड़ थी। सभी दल सत्ता प्राप्ति के लिए

बेताब थे। भारतीय राजनीति के इस बदलाव और राजनेताओं के सत्ता लोलुप चरित्र को परसाई जी ने बखूबी पेश किया है।

परसाई जी के व्यंग्यों में राजनेताओं का अवसरवादी रूप भी देखा जा सकता है। भिखारी की तरह अत्यंत दीन भाव से वोट माँगने वाले और अपने वादों से विकास का सब्जबाग दिखाने वाले राजनेता चुनाव जीतने के बाद अपने क्षेत्र में मुँह दिखाने तक नहीं आते हैं। दल–बदल की प्रवृत्ति, जनता के प्रति अपने दायित्व के अपूर्ण निर्वहन, केंद्र का राज्यों के प्रति 'सौतेला' व्यवहार (यदि राज्यों में विरोधी दल की सरकार हो), राजनेताओं का केंद्रीय मंत्रिमंडल में उच्च पद प्राप्त करने की अभिलाषा, वोट की राजनीति, राजनीतिक दलों में एक–दूसरे के प्रति आरोप–प्रत्यारोप की राजनीति जैसी विसंगतियों पर परसाई जी ने अपने व्यंग्यों में प्रहार किए हैं। परसाई जी के 'कबिरा खड़ा बाजार में', 'ये माजरा क्या है', 'सुनो भाई साधो' और 'अरस्तू की चिट्ठी' जैसे व्यंग्य स्तम्भों में सर्वाधिक व्यंग्य राजनीति विसंगतियों पर ही लिखे गए हैं। उन्होंने अपने व्यंग्यों में महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं से लेकर नेताओं के छोटे से छोटे जन विरोधी कार्यों की आलोचना की है। जून 1975 में तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी द्वारा लगाए गए आपातकाल, जयप्रकाश नारायण के संपूर्ण क्रांति, बिनोवा भावे के भूदान आन्दोलन, जनसंघ की साम्प्रदायिक राजनीति, जनता पार्टी सरकार की 'दूसरी आजादी', भारतीय जनता पार्टी का जन्म, कांग्रेस का विभाजन आदि राजनीतिक परिस्थितियों पर भी परसाई जी ने जमकर व्यंग्य लिखे। जहाँ उन्होंने नेहरू और इंदिरा गाँधी के पूँजीवाद और साम्राज्यवाद विरोधी नीतियों की प्रशंसा की, वहीं उनके सत्ता लोलुप विसंगत कार्यों की आलोचना भी की। इनके अलावा जेपी, बिनोवा भावे, अटल बिहारी वाजपेयी, लालकृष्ण आडवाणी, मोरारजी देसाई, चौधरी चरण सिंह, बाबू जगजीवन राम आदि राजनीतिक चरित्रों की भी समीक्षा की है। उन्होंने हास्यास्पद स्थितियों की सृष्टि कर इन राजनेताओं के चरित्र को एकदम हास्यास्पद बनाया। इस कार्य के लिए उन्होंने ऐसे प्रसंगों, ऐसी स्थितियों की उद्‌भावना की, जिससे उनके व्यक्तित्व के दिशाहीन और गैर जिम्मेदार रूप का पता चल जाए।

भारत में संसदीय जनतंत्र है। इसमें प्रधानता संसद को मिली है, व्यक्ति को नहीं; पर संसद का आचरण और व्यवहार गरिमापूर्ण नहीं है। देश के सामने चुनौतियाँ आती रहीं, जनता के सामने समस्याएँ मुँह बाये खड़ी रही और संसद का रवैया गैर जिम्मेदाराना और असंवेदनशील बना रहा। संसद का कीमती समय 'मुंडन' और 'मंत्री की मूँछ' जैसे विषयों पर ही अटका रहता। जनता अकाल से पीड़ित रहती और राजनेता इन सबसे बेखबर रहकर केवल 'विधायकों के अकाल' से पीड़ित रहते। राजनीतिक दलों एवं उनके व्यक्तियों की दिशाहीन राजनीति से परसाई जी काफी पीड़ित थे। भारतीय राजनीति के इस तरह के रूप को देखकर उन्होंने जान लिया था

कि लोकतंत्र, जनतंत्र, प्रजातंत्र जैसे शब्दों में अब कोई सौंदर्य नहीं बचा है। वे सीधे समाजवाद के पक्षधर थे। जनता की समस्याओं के किसी भी तरह के समाधान के अभाव से पीड़ित होकर वे सामाजिक परिवर्तन की बात करते थे। उन्हें भारतीय राजनीति के इन रूपों पर कतई विश्वास नहीं था। वे लगातार क्रांति की आवश्यकता को रेखांकित करते हैं। इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति 'अकाल उत्सव' और 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' व्यंग्यों में हुई है। ये दोनों ही व्यंग्य 'फैंटेसी' शिल्प में हैं। अकाल से पीड़ित भूखी जनता के क्रांतिकारी रूप में फैंटेसी के माध्यम से चित्रित करते हुए परसाई जी ने लिखा है कि "अब ये भूखें क्या खाएँ? भाग्य विधाताओं और जीवन के थोक ठेकेदारों के नाक खा गए, कान खा गए, हाथ खा गए, टाँग खा गए। वे सब भाग गए। अब क्या खाएँ... अब क्या खाएँ? आखिर वे विधानसभा और संसद की इमारतों के पत्थर और ईंटें काट–काटकर खाने लगे।"[18] अब बचे संविधान और न्यायपालिका, जिन्हें परसाई जी 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' में चूहों से कुतरवा देते हैं। इन स्थितियों से साफ पता चलता है कि उनमें संसदीय लोकतंत्र के प्रति कोई 'आस्था' नहीं रह गई थी।

परसाई जी ने भारतीय राजनीति में आई उन विकृतियों की तीखी आलोचना की जो न केवल देश और लोगों को जड़ बनाती है, अपितु व्यक्तियों और समाजों के बीच विभेद भी पैदा करती है। उनका लेखन अपने आप में संघर्षशील व्यक्ति का प्रतिरूप है। वे विकृतियों पर ही नहीं, वरन उन्हें पैदा करने वाले व्यक्तियों पर भी स्पष्ट और सीधे–सीधे प्रहार करते हैं। समाज, राजनीति आदि में अगर विसंगतियाँ हैं तो वे अनायास ही पैदा नहीं हो गईं। उन्हें पैदा करने वाले भी इसी समाज में हैं। ऐसे लोगों की एक पूरी की पूरी 'लॉबी' है। उस लॉबी को पहचानने में परसाई जी कतई भूल नहीं करते। यह उनके व्यंग्यों से स्पष्ट है। भारतीय राजनीति में आई ऐसी ही विसंगतियों में है– धर्म और जातिवाद का बोलबाला। वे दोनों विभेद पर केंद्रित हैं और राजनीति में आकर उसके राजनीतिक वातावरण को दूषित कर देती हैं। इन विभेदकारी शक्तियों को राजनीतिक संरक्षण मिलने से इनका जनमानस पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है, फलतः रूढ़िवादिता और कट्टरता को बल मिलता है। वैज्ञानिकता और मानवीयता की हत्या होती है। सत्ता आधारित राजनीति का समाज के लोगों पर स्पष्ट और सीधा प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक विसंगतियों के रहते हुए यह कैसे उम्मीद की जा सकती है कि समाज स्वच्छ बना रहे। उन्होने राजनीति विसंगतियों को आधार बनाकर बहुत से व्यंग्य लिखे हैं तो इसलिए कि "सिद्धांत, नैतिकता, मूल्य, ईमान सब इस राजनीति से गायब हो चुके हैं। राजनीतिक संस्कृति संड़ चुकी है। किसी छोटे से बड़े नेता तक आज ईमानदार और सिद्धांतवादी कहने में खतरा है। सुनने वाला गुस्से से चाँटा मार देगा। किसी को विश्वास नहीं।"[20] इसका समाज पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। परसाई जी

ने एक अन्य जगह लिखा है कि 'मनुष्य की नियति तय करने वाली एक राजनीति भी है।' अतः समाज राजनीति से निरपेक्ष बना नहीं रह सकता।

हम पूँजीवादी व्यवस्था में साँस ले रहे हैं। यह पैसा प्रधान युग है। जिसके पास जितना पैसा है, उतना ही बड़ा व्यक्ति माना जाता है। इस व्यवस्था में इंसान की मानसिकता को ऐसा बना दिया है कि अपने विद्यमान पैसे से कोई भी व्यक्ति संतुष्ट नहीं है। सब उसमें इजाफा चाहते हैं और यह प्रक्रिया थमती नहीं है। संपत्ति में निरंतर वृद्धि होती रहे, उसे पैसे की बढ़ोतरी में विराम कतई पसंद नहीं। व्यक्ति पैसा कमाने में इतना लिप्त रहने लगा है कि वह मानवीय संबंधों से कटता जा रहा है, यानी यह व्यवस्था आदमी में केवल पैसे का संबंध देखती है। इस पूँजीवादी व्यवस्था ने भारी मात्रा में मूल्यों को विघटित किया है। समाज की मानसिकता कुछ इस तरह की हो गई है कि जो व्यक्ति जितना अमीर होता है वह उतना ही सम्मानीय मान लिया जाता है। पूँजीवाद का यह असर गाँवों तक में पहुँच चुका है। स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है कि लोगों की नजर में आदर्श व्यक्ति भी धनवान व्यक्ति ही होता है। मूल्यों का यह गिरता स्तर है।

व्यवसाय इस पूँजीवाद व्यवस्था का एक रूप है। सारे का सारे व्यवसायी शोषक प्रवृत्ति के होते हैं। व्यवसाय की यह प्रवृत्ति पूँजीपतियों से लेकर मध्यवर्ग तक में देखी जा सकती है। निर्धन जनता इन सारे लोगों के शोषण का शिकार होती है। यह इस दौर की विसंगति है। पूँजीवाद बड़े–बड़े नगरों में पैर पसार कर छोटे–छोटे शहरों से गुजरता हुआ अब गाँवों तक पहुँचने की कोशिश कर रहा है। इसमें वह सफल भी हो रहा है। बेहद महत्वपूर्ण मानव मूल्यों को रौंदता हुआ पूँजीवाद निरंतर और बहुत तेज गति से अपने पैर पसार रहा है। परसाई जी अपने व्यंग्य 'किताबों की दुकान और दवाओं की' में लिखते हैं "मुझे इस सड़क के भाग्य पर तरस आता है। सालों से देख रहा हूँ, सामने के हिस्से में जहाँ परिवार रहते थे, वहाँ दुकानें खुलती जा रही हैं। परिवार इमारत के पीछे चले गए हैं। दुकान लगातार आदमी को पीछे ढकेलती जा रही है। दुकानें आदमी को ढाँपती जा रही हैं।"[21] यहाँ 'आदमी' आदमियत का प्रतीक है और दुकानें व्यवसाय का। यहाँ एक तो व्यावसायिक प्रवृत्ति की तीव्र वृद्धि को देखा जा सकता है, दूसरी ओर आदमियत पर शोषण के आधिपत्य को भी। व्यवसाय के साथ मुनाफा अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है और मुनाफे के साथ शोषण की प्रवृत्ति। व्यावसायिकता की यह सर्व व्यापकता ही है कि मकान मालिक तक किराए के लिए दिए जा सकने वाले मकानों का निर्माण कराता है। एक अन्य व्यंग्य निबंध 'राम का दुःख और मेरा' में परसाई जी लिखते हैं "मकान भी दो तरह के होते हैं, रहने के और किराए पर देने के। एक प्रकार के मकान से दूसरे प्रकार के मकान का काम नहीं लिया जाता– रहने का मकान किराए पर नहीं दिया जाता और किराए के मकान में रहा नहीं

जा सकता।''[22] यह एक विडम्बना है। इस व्यावसायिकता के सूत्र हैं– कम लागत के घटिया माल से मकान बनाना और किराए के रूप में अधिक दाम वसूलना।

पैसे कमाने के बहुत से तरीके हैं। आदमी ज्यादा से ज्यादा पैसा कमाना चाहता है और उसी मात्रा में खर्च भी करना चाहता है, इसी प्रक्रिया में आदमी में एक विसंगति घर कर जाती है। प्रदर्शन की प्रवृत्ति सामंतवाद में भी थी और पूँजीवाद में भी है। इस युग में यह मनोवृत्ति व्यापक स्तर पर देखी जा सकती है। एक व्यक्ति अपने आपको अन्य व्यक्तियों के मध्य विशिष्ट बनाने के लिए यह सब करता है। जिस व्यक्ति के पास अवैध तरीके से प्राप्त किए गए पैसे की अतिशयता हो, वह कभी चुप नहीं बैठ सकता। प्रदर्शन की इस मनोवृत्ति को आधार बनाकर परसाई जी ने ढेरो व्यंग्य लिखे हैं। प्रदर्शन की इस प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए वे लिखते हैं कि "पैसा ऊपर हो जाता है तो वह अपना रूप प्रकट करना चाहता है। वह अकुलाता है कि मैं हूँ और दिखाई नहीं दे रहा हूँ। मैं अपने को अभिव्यक्त करूँ और पैसा इस तरह फूटकर प्रकट हो जाता है जैसे पके फोड़े का मवाद।''[23]

व्यवसाय के प्रसार में विज्ञापन की बहुत बड़ी भूमिका है। भारी मात्रा में उत्पादों की निर्मिति और उनका प्रचार हो रहा है। जिस वस्तु की माँग बढ़ती है उसके उत्पादन में बहुत सी कंपनियाँ कूद पड़ती हैं। माना जाता है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है पर पूँजीवाद का चरित्र यह हो गया है कि आविष्कार को विज्ञापन के माध्यम से आवश्यक बना दिया जाता है। सैकड़ों किस्म के इत्र, फुलेल हैं, फिर भी बाजार में नए ब्रांड आ रहे हैं। हर कंपनी अपने उत्पाद को बाजार में खपाना चाहती है। असल में यह प्रतियोगिता का दौर है। सामने वाला चाहे जितना ताकतवर हो, उसे कुचलकर आगे बढ़ते जाने का दौर है यह। किसी पर कोई प्रतिबंध नहीं। लेकिन इस प्रक्रिया में बहुतों का निर्मम शोषण भी होता है। विडम्बना यह है कि उत्पादों की निर्मिति में जिन मजदूरों की बड़ी भूमिका रहती है, वही इनके उपभोग से वंचित रह जाते हैं।

पूँजीवाद और नव साम्राज्यवाद का एक भयानक हथियार है– विज्ञापन। यह उपनिवेशवादी दौर के साम्राज्यवाद से भिन्न किस्म का साम्राज्यवाद है। पहले जिस देश को उपनिवेश बनाया जाता था, उसकी राजनीतिक सत्ता भी उन साम्राज्यवादियों के हाथ में रहती थी। लेकिन आज स्थिति यह है कि देश की राजनीतिक सत्ता उनके हाथों में न होते हुए भी सत्ता पर विराजमान शासक उन्हीं के 'एजेंट' होते हैं। अब ये लोगों की मानसिकता पर आधिपत्य कर लेना चाहते हैं। यह कार्य विज्ञापनों के जरिए (उत्पादों का प्रचार करके) हो रहा है। इसी प्रक्रिया में नव साम्राज्यवाद लोगों को इस बात का भी बोध कराता चलता है कि उन पर किसी का आधिपत्य नहीं है, वे स्वतंत्र हैं। इस नव साम्राज्यवाद के ढेरों उदाहरण आज प्रत्यक्ष घटित होते हुए देख सकते हैं।

परसाई जी की दृष्टि में विज्ञापन 'अनावश्यक को आवश्यक' बनाता है। जो उत्पाद व्यक्ति के पास नहीं है, व्यक्ति उस उत्पाद को खरीदे। विज्ञापन व्यक्ति की मानसिकता को अपनी गिरफ्त में कर लेता है। वह व्यक्ति को विज्ञापित उत्पाद को खरीदने के लिए उकसाता है। विज्ञापनों में सर्वाधिक मात्रा में प्रतिष्ठित व्यक्ति या सुन्दर स्त्री का इस्तेमाल किया जाता है। आज के युग में सुन्दरता एक क्रूर जीवन–मूल्य का रूप ले चुकी है। यह मूल्यों का विघटन है। सुन्दरी उत्पाद का प्रचार करते हुए कहेगी– "मैं हमेशा ईडन बाग के सेव खाती हूँ। ये स्वादिष्ट और गुणकारी होते हैं। इनसे मेरी त्वचा मुलायम और चमकदार होती है।"[24] 'सुन्दरता' एक मूल्य बन चुका है। तब ऐसा कौन होगा जो सुन्दर नहीं बनना चाहेगा। स्त्री और पुरुष में ऐसा कैसे हो सकता है कि वे अपनी त्वचा को 'मुलायम' और 'चमकदार' न बनाएँ। उक्त प्रचार का स्त्री पर जबरदस्त प्रभाव पड़ेगा। सुबह काम पर जाते हुए अपने पति से उसकी पत्नी कहेगी– "सुनते हो! मैंने कहा, दफ्तर से लौटते एक सेर ईडन के सेब जरूर लेते आना।"[25] 'ईडन के सेब' खाकर स्त्री सुन्दर हो या न हो, पर उत्पाद लोगों की मानसिकता को नियंत्रण में ले ही चुका है। वे इसे खरीदने के लिए विवश हो जाते हैं।

उत्पाद वही खरीद सकता है जिसकी आर्थिक हैसियत हो, पर यहाँ सवाल उठता है कि जिसके पास पैसा न हो वह क्या करेगा। वह उत्पाद का उपभोग नहीं कर सकता। अन्य लोगों की तरह उसके मन में भी इसकी अभिलाषा पैदा होती है। उत्पाद की अप्राप्ति से ऐसे व्यक्तियों में कुंठा का पैदा होना स्वाभाविक है। कुछ ही उत्पाद होते हैं जिनकी कीमतें ऐसी होती हैं कि साधारण जन खरीद सकें। ज्यादातार उत्पादों की कीमतें आसमान छूती नजर आती हैं। पूँजीवादी व्यवस्था ने सीधे दो वर्ग बना दिए हैं, उनमें आर्थिक दृष्टि से गहरी खाई भी निर्मित कर दी है। एक वर्ग के पास पैसे की अधिकता है और वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सहजता से कर लेता है, तो दूसरी ओर ऐसा वर्ग है जो संघर्ष करके अपनी जीविका चलाता है और फिर भी पैसे का अभाव। एक के पास इतना पैसा, दूसरे के पास इतना कम। इसके मूल में शोषण की प्रवृत्ति विद्यमान है। यही कारण है कि पूँजीवादी व्यवस्था की घोर आलोचना परसाई जी ने अपने व्यंग्यों में की है।

पूँजीवादी व्यवस्था में जो खरीददार है, उसी का महत्व है; पर जो खरीददार नहीं हैं, वह इस व्यवस्था के अनुसार आदमी ही नहीं हैं, उसका कोई महत्व नहीं है। आदमी वह है जिसके पास पैसा है अर्थात जो खरीददार है वही आदमी है। समाज का निम्नवर्ग विज्ञापन कंपनियों का उपभोक्ता नहीं है तो उन्हें इनसे कोई मतलब नहीं, जो वर्ग इन उत्पादों का निर्माता है वही इन उत्पादों का इस्तेमाल अपने जीवन में नहीं कर सकता है। यह पूँजीवादी व्यवस्था की अमानवीयता है, उसका शोषणकारी रूप है। जिस

व्यवस्था में समाज के सबसे बड़े वर्ग का शोषण हो रहा है, उस व्यवस्था का अंत जरूरी है। और यहीं से परसाई जी की चेतना में व्यंग्य की निर्मिति होने लगती है।

असल में पूँजीवादी व्यवस्था एक शातिर दिमागी व्यवस्था है। इसने सामंतवाद से बेहद फायदा उठाया है। सामंतों के किले इस व्यवस्था में होटल व्यवसाय के रूप में परिवर्तित हो गए हैं। पूँजीवादी व्यवस्था ने सामंतवाद की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक स्थिति से फायदा उठाते हुए अपनी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति की निर्मिति की। सामंतवाद में राजा का पुत्र राजा (उसके अभाव में अन्य संबंधी भी, पर ऐसा कभी–कभी ही होता था), सामंत का पुत्र सामंत होता था। यह प्रक्रिया पीढ़ी दर पीढ़ी चलती थी, यानि वंशानुगत थी। पूँजीवाद ने यह सब उलट दिया है। इसके अनुसार राजा या सामंत की संतानों ने यह ठेका नहीं ले रखा है कि पिता की मृत्यु के बाद वे संबंधित पद के अधिकारी होंगे और जनता पर शासन करेंगे। पूँजीवाद अपने साथ जनतंत्र लेकर आया है, जिसमें कोई भी सत्ता का अधिकारी हो सकता है। यह जनतंत्र है, जनता का शासन है पर यह केवल मिथ्या विश्वास है। जनतंत्र भी पूँजीवादी हो गया है। चुनकर चाहे जो भी जाए, जनतंत्र में जन रौंदा जाता है इसके तंत्र द्वारा ही। इस पूँजीवादी जनतंत्र में शासक वही बन सकता है जिसके पास दौलत है, जिस व्यवस्था में दौलत ही मूल्य बन गया हो, वहाँ यह सब होना स्वाभाविक है। स्थिति यह हो गई है कि व्यक्ति चाहे सत्तासीन न हो, इस व्यवस्था ने व्यक्ति को यह बोध करा दिया है कि वह भी सत्ता सुख भोग सकता है, व्यक्ति को पद प्राप्ति के खयालों में खोया रहना सिखा दिया गया है। सामंती दौर में यह सब संभव नहीं था। इसलिए लोगों की दृष्टि में पूँजीवाद अच्छा है। पूँजीवाद ने व्यक्ति को स्वतंत्रता प्रदान की है। कुछ महत्वपूर्ण मूल्य भी पूँजीवाद लेकर आया है। पूँजीवाद ने व्यक्ति पर लगे सामंती प्रतिबंधों को तोड़–मरोड़ दिया है। पूँजीवाद ने व्यक्तियों को होड़ में आगे बढ़ने के रास्ते दिखाए। यह सही भी है। पूँजीवाद में सब कुछ गलत नहीं है पर पूँजीवाद में उजरती श्रम पर जीने वाली निम्नवर्गीय जनता का व्यापक स्तर पर शोषण भी किया जाता है। पूँजीवादी दौर सामाजिक सरोकारों के प्रति संवेदनहीनता का भी दौर है।

पूँजीवादी व्यवस्था के आरंभिक व्यक्ति चालाक चितेरे थे। उन्होंने ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया जिसमें स्वतंत्रता भी प्रदान की जा सकती है और लोगों का शोषण भी किया जा सकता है। इस व्यवस्था के नकारात्मक और सकारात्मक दोनों पक्ष हैं। इस देश में जाति व्यवस्था थोड़ी मात्रा में ही सही, पर टूट रही है। जिस सामंती दौर में स्त्री की देह के पौर–पौर पर प्रतिबंध था, इस व्यवस्था ने उस स्त्री को प्रदर्शन की वस्तु बना दिया। कहा जाता है कि इस व्यवस्था में स्त्री 'कमोडिटी' हो गई है। जो भी हो पर इस व्यवस्था के ही आने पर स्त्री स्वतंत्र भी हुई है। 'संस्कारों और शास्त्रों की लड़ाई' व्यंग्य में परसाई जी ने इस पूँजीवादी व्यवस्था में पैदा हुई महँगाई को स्त्री की

आजादी का मूल कारण बताया है। इस व्यवस्था में बहुत से नकारात्मक कार्यों के सकारात्मक परिणाम आ रहे हैं और सकारात्मक कार्यों के नकारात्मक। जिस क्रांति की बात परसाई जी अपने ढेर सारे व्यंग्यों में करते हैं, वहाँ तक अगर हम नहीं पहुँच पा रहे हैं तो इसके मूल में वे लोग है जो पूँजीवादी व्यवस्था से फायदा उठा रहे हैं। पूँजीवादी व्यवस्था ने अपना ऐसा वातावरण निर्मित कर लिया है कि चाहकर भी सभी लोग इसका विरोध नहीं कर सकते। वे लोग क्यों विरोध करें जिन्हें इस व्यवस्था ने बेहद सुविधाएँ दी हैं? यह प्रश्न हमारे सामने उठता है। विरोध केवल वे लोग करें जो शोषण के शिकार हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के ये रूप कहीं प्रत्यक्ष, तो कहीं अप्रत्यक्ष रूप में परसाई जी के व्यंग्यों में देखे जा सकते हैं।

परसाई जी मूल्यों के बेहद पक्षधर थे। वे प्रतिबद्ध थे। वे चाहते थे कि जो सामाजिक दायित्व के पदों पर बैठे हैं, उनके लिए आवश्यक है कि वे ऐसी व्यवस्था के पक्ष में कतई न जाएँ, जो सामाज के एक बहुत बड़े वर्ग का शोषण करती है, पर जब वे ऐसा कार्य करते हैं तो ऐसे लोगों की परसाई जी आलोचना भी करते हैं। ऐसे लोगों में अखबारों के संपादक, सांसद, सेना के कर्नल आदि हैं।

पूँजीवाद के कारण समाज में भारी परिवर्तन हुए हैं। 'कॉल गर्ल' और 'कॉल ब्वॉय' विशुद्ध रूप से पूँजीवाद की उपज है। 'कॉलगर्ल' की स्थिति पारम्परिक वेश्याओं से अलग होती है। 'कॉल गर्ल' की एक रात की कीमत इतनी अधिक है कि एक निम्नवर्गीय छोटा परिवार उतने पैसे से दो साल का अपना खर्च चला सकता है। पूँजीवादी व्यवस्था के ये रूप उनके बहुत से व्यंग्यों में देखे जा सकते हैं जिनमें 'लुच्चन की भीड़', 'ईडन के सेब', 'विज्ञापन संस्कृति', 'मूल्यों का उलटफेर', 'अपनी–अपनी हैसियत' और 'विज्ञापन में बिकती नारी' मुख्य हैं।

इस देश में मध्यवर्ग की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। मध्यवर्ग में भारी इजाफा बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आने के बाद हुआ है। जैसे–जैसे पूँजीवाद अपने पैर पसारता जा रहा है, वैसे–वैसे मध्यवर्ग की संख्या भी बढ़ती जा रही है। सामाजिक सरोकारों के प्रति 'पूर्ण संवेदनहीनता' इसी वर्ग में देखने को मिलती है।[26] बड़े–बड़े नगरों में जहाँ मध्यवर्ग बहुतायत में है वहाँ यह प्रवृत्ति व्यापक स्तर पर देखी जा सकती है। छोटे–छोटे कस्बों में रहने वाले मध्यवर्ग में भी यह संवेदनहीनता साफ देखी जा सकती है। पूरा का पूरा मध्यवर्ग और उच्चवर्ग पूँजीवाद का गुलाम है। सामाजिक सरोकारों के प्रति प्रतिबद्ध लोग मध्यवर्ग में बहुत थोड़ी मात्रा में देखने को मिलते हैं। 'नेशनल काउंसिल ऑफ एप्लाइड इकोनॉमिक रिसर्च' के हाल के सर्वेक्षण (अगस्त 2005) में बताया गया है कि भारत में सन् 2010 तक करीब एक तिहाई जनसंख्या मध्यवर्गीय हो जाएगी। इस वर्ग की सामाजिक सरोकारों के प्रति संवेदनहीनता ने ही पूँजीवाद को आगे बढ़ने में मदद की है। मध्यवर्ग पर परसाई जी ने जमकर लिखा है। मध्यवर्गीय की

विसंगतियों को जितने बड़े पैमाने पर परसाई जी ने उठाया है, उतना स्वतंत्रता के बाद के किसी अन्य साहित्यकार ने नहीं। मध्यवर्ग से परसाई जी इस तरह खफा थे कि हैदराबाद से निकलने वाली 'कल्पना' नामक पत्रिका के 'और अंत में' स्तम्भ में 'साहित्य के गतिरोध' शीर्षक व्यंग्य में रेणु जी की इसलिए आलोचना कर बैठे कि उन्होंने एक शहरी मध्यवर्गीय व्यक्ति जित्तन को अपने उपन्यास 'परती परिकथा' का नायक बनाया। परसाई जी मध्यवर्गीय जित्तन के चरित्र से खफा थे। असल में "मध्यवर्ग की संस्कृति और मूल्य, उसकी विडम्बनाएँ और पाखंड, उसके तर्कहीनता और स्वार्थपरता परसाई जी की रचना के प्रिय विषय हैं। मध्यवर्गीय व्यक्ति की मनोवृत्तियों पर व्यंग्य कसना (तो) कोई परसाई जी से सीखे।"[27] मध्यवर्ग के बारे में फिलहाल इतना ही, मध्यवर्गीय जीवन और उसकी विडम्बनाओं पर विस्तृत अध्ययन तृतीय अध्याय में किया जाएगा।

इस पूँजीवादी व्यवस्था में एक वर्ग अभी हाल ही में पैदा हुआ है, वह है– नव धनाढ्य वर्ग। यह वर्ग बड़ी मात्रा में संपत्ति अर्जित कर रहा है। यह जितनी मात्रा में धन इकट्ठा कर रहा है उसे लेकर उच्चवर्ग तक आश्चर्य चकित है। पूरन चंद जोशी के शब्दों में, "यह हर कोई जानता है कि नव धनाढ्य वर्ग का संसार बड़े पैमाने पर काले धन और काले सौदों का संसार है। यह वर्ग उन लोगों में चाहे जो जुगुप्सा जगाए जो नैतिक दृष्टि से नव धनाढ्य वर्ग के बनावटी और चमक–दमक के माहौल से अभी तक अछूते रह गए हैं, पर उसने जो दानव रूप धारण किया है उसे लगाम देने में राज्य और समाज प्रायः अशक्त दिखाई पड़ते हैं।"[28] अशक्त दिखाई पड़ने का कारण यह है कि "इसे कभी–कभी पहचान लेना तो आसान है, लेकिन अक्सर उनकी पहचान अधिकांशतः अनुत्पादक जीवन पद्धति, सघन कार्यकलाप, प्रखर गतिशीलता और आसाधारण प्रामाणिकता के बनावटी प्रदर्शनों से ढँकी होती है।"[29] ध्यान देने वाली बात यह है कि यह वर्ग अनुत्पादक है, उत्पादन में इसका कोई योगदान नहीं होता। इस वर्ग में दलाल और विचौलिए, सट्टेबाज और कालाबाजारी आदि लोगों के वर्ग हैं। परसाई जी के व्यंग्य– साहित्य में इस वर्ग की कुछ ही जगहों पर चर्चा है। उनकी दृष्टि में यह वर्ग पश्चिमी जीवनमूल्यों को अपने व्यवहार में उतार चुका है। यह वर्ग पैसे कमाने में इस तरह लिप्त हो गया है कि अब इसमें निर्वासन और अमानवीयकरण की प्रवृत्ति जन्म ले चुकी है। यह वर्ग मानवी संबंधों को पूर्णतः नकार चुका है और पशु स्तर पर जी रहा है। परसाई जी की दृष्टि में यह मूल्यों का उलटफेर ही है।

परसाई जी ने प्रशासनतंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, लालफीताशाही आदि विसंगतियों को अपने व्यंग्यों का विषय बनाया है। नौकरशाही का गैर जिम्मेदाराना रूप व्यापक स्तर पर परसाई जी के व्यंग्यों में देखा जा सकता है। इस देश का शायद ही कोई विभाग हो जो भ्रष्टाचार में लिप्त न हो। रिश्वत दिए वगैर कोई कार्य संपन्न नहीं होता, व्यक्तियों की अर्जियों का कोई ख्याल नहीं, जो कार्य जिस समय पर होना चाहिए

उसका समय पर न होना प्रशासन में आम बात है। 'भोला राम का जीव' ऐसा ही व्यंग्य है। समाज की सेवा करने वाले अपनी सेवा में लगे हुए हैं। प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार में बड़े–बड़े पदाधिकारियों से लेकर छोटे–छोटे पदाधिकारी तक शामिल हैं। पुलिस प्रशासन की क्रूरता और बर्बरता से कौन अपरिचित होगा। यह वर्ग बेहद निकम्मा और गैर जिम्मेदार है। लेकिन मानवतावादियों में यही सबसे आगे हैं। परसाई जी 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' व्यंग्य में पुलिस के 'इनवेस्टिगेशन' सिद्धांत को मातादीन के ही मुख से कहलवाते हैं– "देखो, आदमी मारा गया है तो यह पक्का है कि किसी ने उसे मारा। कोई कातिल है। किसी को सजा होनी ही है। सवाल यह है कि किसको सजा होनी है ? पुलिस के लिए यह सवाल इतना महत्व नहीं रखता, जितना यह सवाल कि जुर्म किस पर साबित होता है। कत्ल हुआ है तो किसी मनुष्य को सजा होगी ही। मारने वाले को होती है या बेकसूर को, यह अपने सोचने की बात नहीं है। मनुष्य सब बराबर है। सब में उसी परमात्मा का अंश है। हम भेदभाव नहीं करते। यह पुलिस का मानवतावाद है।"[30] पुलिस ऐसे कार्यों के लिए बधाई की पात्र है। इस प्रशासन की तस्वीर बना उस पर फूल मालाएँ अर्पित कर उसका सम्मान किया जाना चाहिए।

न्यायपालिका सरकार का एक प्रमुख अंग है। देश के लोगों को न्याय प्रदान करना इसका प्रधान कार्य है। सरकार के इस अंग की विसंगतियों पर भी परसाई जी ने प्रहार किए हैं। देर से न्यायालय का फैसला आना न्याय व्यवस्था का सबसे नकारात्मक पक्ष है। किसी फैसले में बेगुनाह को सजा हो जाती है तो वह ऊपर के न्यायालय तक में अपना मुकद्मा नहीं ले जा सकता, क्योंकि वहाँ ले जाने के लिए पैसे की आवश्यकता होती है और एक गरीब व्यक्ति यह सब नहीं कर सकता है। इस न्याय व्यवस्था की विसंगति को उजागर करते हुए परसाई जी लिखते हैं कि "न्याय देवता है। हर देवता भेंट लेता है। अगर भक्त से सीधे भेंट ले तो कोई बात नहीं, पर हर देवता का एक मध्यस्थ होता है– 'मिडिल मैन'। न्याय देवता का 'मिडिल मैन' वकील होता है। दुश्मन से छुटकारा मिल सकता है पर अपने वकील से छुटकारा नहीं। एक बार कचहरी चढ़ जाने के बाद सबसे बड़ा काम है अपने ही वकील से रक्षा करना। प्रतिपक्षी से उतना डर नहीं रहता जितना अपने वकील से। वह एक के बाद दूसरी उलझन में फँसाता जाएगा और आप समझ नहीं पाएँगे कि आप कहाँ जा रहे हैं।"[31] इस प्रकार 'सफल वकील वह है जो मुवक्किल को न जीतने दे, न हारने दे, बस मुकद्मे चलते रहें।' परसाई जी इन विद्रूपताओं के मूल में जाकर खोजबीन करते हैं। वे इसके दूसरे पक्ष को भी सामने रखते हैं। वे मानते थे कि भ्रष्टाचार सब जगह व्याप्त है। वे इस बात को भी जानते थे कि भ्रष्टाचार मिटाने के लिए कुछ बुनियादी चीजों पर भी ध्यान देना जरूरी है। उनकी दृष्टि में भ्रष्टाचार फैलने का कारण वह सरकार भी है जो कर्मचारियों को कम वेतन देती है जिससे वे भ्रष्ट हो जाते हैं। व्यक्ति की अपनी आवश्यकताएँ होती हैं।

उसे अपना ही नहीं, पूरे परिवार का खर्च उसी वेतन से चलाना होता है। ऐसी स्थिति में महीना खत्म नहीं हुआ कि पैसे खत्म, बाकी दिन का खर्च कहाँ से चलाएँ? यह सोचकर वह पहले से ही अपने लिए 'प्रबंध' करने लग जाता है। महँगाई बढ़ रही है पर वेतन नहीं। ऐसी स्थिति में अगर सरकार 'सदाचार का ताबीज' भी बँटवाएँ तो कुछ भी नहीं होने वाला।

असल में स्वतंत्रता के बाद का समय 'विकलांग श्रद्धा का दौर' है। श्रद्धा एक अंतरवर्ती क्रिया है, एक भाव है। श्रद्धा में आदर का भाव अंतर्निहित रहता है। श्रद्धा उस व्यक्ति के प्रति होती है जो समाज सापेक्ष कल्याणकारी कार्य करता है। जो कोई ऐसा कार्य कर रहा हो कि उसमें किसी का शोषण न हो, उसी के प्रति दूसरे के मन में श्रद्धा पैदा होती है। होना तो ऐसा ही चाहिए था, पर हो रहा है इसके ठीक विपरीत। अब श्रद्धा तो रखी जा रही है, पर ऐसे व्यक्ति के प्रति नहीं जिसने कोई बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया हो, बल्कि ऐसे व्यक्ति के प्रति जो सहज, सामान्य जीवन जीते हुए अपनी उम्र पूरी कर लेता है। अब श्रद्धा के उद्देश्य, उसके निहितार्थ बदल गए हैं। अब एक व्यक्ति दूसरे के प्रति श्रद्धा इसलिए रखता है क्योंकि उसे ऐसा करना चाहिए। 'श्रद्धालु' व्यक्ति के मन में 'श्रद्धेय' व्यक्ति के प्रति इसलिए श्रद्धा उमड़ रही है क्योंकि 'श्रद्धेय' या तो उच्च कुल में पैदा हुआ है, या फिर वह वयोवृद्ध है। ऐसे रूप 'श्रद्धालु' व्यक्ति की प्रतिक्रियावादी सोच के उदाहरण ही कहे जा सकते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अपने आपको 'श्रद्धेय' बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ते। ऐसे लोग अपने आपको इसलिए 'श्रद्धेय' बनाने की कोशिश करते हैं क्योंकि ऐसा करने से उन्हें सुकून मिलता है। परसाई जी की दृष्टि में यह 'विक्लांग श्रद्धा' है।

परसाई जी ने सामाजिक और धार्मिक जीवन में प्रचलित विसंगतियों पर भी लिखा है। उन्होंने इन क्षेत्रों में यथास्थितिवाद, रूढ़िवाद और पुरातनवाद के समर्थकों पर तीव्र प्रहार किए हैं। सामाजिक और धर्मिक जीवन में बहुत सी विसंगतियाँ है। लोग पाखंडी हो गए हैं। वे अब तक सामंती जीवन मूल्यों से चिपके हुए हैं। समाज में आज के इस वैज्ञानिक युग में भी लोग अंधविश्वासों में जी रहे हैं। बहुत पहले से ही यह समाज स्त्री स्वतंत्रता का विरोधी रहा है। वह आज भी स्त्री को स्वतंत्र नहीं करना चाहता। महाकवि तुलसीदास तक ने लिखा है– 'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहि नारी।' यह स्त्री का शोषण है। स्त्री के शरीर और मन दोनों पर प्रतिबंध लगा दिया गया है। परसाई स्त्री की पराधीनता को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि ''स्त्री के लिए अभी भी पत्नी के पद पर नौकरी सबसे सुरक्षित जीविका है।''[32] इसमें स्त्री का संपूर्ण जीवनदर्शन छिपा हुआ है। याद आती है रघुबीर सहाय की 'पढ़िए गीता' कविता–

'पढ़िए गीता
बनिए सीता

फिर इन सबमे लगा पलीता
किसी मूर्ख की बन परिणीता
निज घरबार बसाइए
होंय कंटीली, आँखे गींली
लकड़ी सीली, तबियत ढीली
घर की सबसे बड़ी पतीली
भर–भर भात पकाइये।'

यह घर की चारदीवारी में बंद स्त्री का असल जीवन है। मनुष्य की उम्र अवस्थाओं में बँटी हुई है– शैशवावस्था, कौमार्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था। हर अवस्था में स्त्री पर प्रतिबंध है– कभी पिता द्वारा, कभी पति द्वारा और कभी पुत्र द्वारा स्त्री को नियंत्रण में रखा जाता है। यह सामंती दौर का जीवनमूल्य है, जिसे पूर्णतः समाप्त हो जाना चाहिए, पर यह आज भी यह जीवनमूल्य व्यापक स्तर पर समाज में विद्यमान है। परसाई जी के व्यंग्यों में स्त्री स्वतंत्रता की अभिलाषा की अभिव्यक्ति ही नहीं हुई है, वरन उन रूढ़ियों के प्रति तीव्र विद्रोह भी देखा जा सकता है। ऐसा ही एक और सामंती मूल्य है जातिवाद। भारतीय समाज जातियों में बंधा है, पहले वर्ण व्यवस्था लागू थी जिसमें ब्राह्मण सर्वोच्च शिखर पर रहे और अपने को शारीरिक श्रम से दूर रख दूसरों के शारीरिक श्रम पर निर्भर रखा। जाति व्यवस्था कुछ और नहीं, वर्ण व्यवस्था का ही विकसित रूप है। सामाजिक प्रतिमानों के बाहर स्त्री–पुरुष के प्रेम पर पूर्ण प्रतिबंध है। इन प्रतिमानों के उल्लंघन पर जाति चली जाने का डर उन्हें लगातार बना रहता है। इन सामाजिक प्रतिमानों में इतना खोखलापन है कि परस्पर मानवीय संबंधों को व्यभिचार की श्रेणी में डाल दिया जाता है और तथाकथित प्रतिमान को सुरक्षित बनाए रखा जाता है। ऐसी स्थिति पर व्यंग्य करते हुए परसाई जी ने अपने एक पात्र से कहलवाया है कि "होने दो। व्यभिचार से जाति नहीं जाती, शादी से जाती है।"[33] यह जाति व्यवस्था की जड़ता है।

सामाजिक प्रतिमानों के बाहर पड़ने वाला यह प्रेम इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह न केवल मानवीय है, अपितु सामंती जीवन मूल्यों का घोर विरोधी भी है। प्रेम न केवल जाति बंधनों को तोड़ता है अपितु समाज में घर कर गई दहेज जैसी सामाजिक बुराई को भी नष्ट करता है। परसाई जी ने दहेज प्रथा पर खूब कुठाराघात किया। दहेज के सामने लड़की की विशिष्टता गौण हो जाती है। लड़की के पढ़ी–लिखी और सुन्दर होने के बावजूद दहेज के बिना 'पति' मिलना लगभग असंभव है। स्त्री की पराधीनता और उसके प्रति समाज का नजरिया कैसा है, इसे परसाई जी की दीर्घ कथा 'तट की खोज' में देखा जा सकता है। परसाई जी समस्याओं के इतिहास में भी जाते हैं। जो समस्या आज है, क्या पहले भी उसका कोई रूप रहा है और यदि रहा है तो किस प्रकार का?

दहेज प्रथा के इतिहास को वे देखते हैं। सामंतवाद में यह प्रथा किस रूप में थी और पूँजीवाद में इसका रूप क्या है? अपने एक व्यंग्य 'शादी का उतरता मौसम' में वे न केवल इस प्रथा के सामंतवादी और पूँजीवादी रूप बताते हैं बल्कि यह भी रेखांकित करते हैं कि जिस व्यवस्था में पैसे को बेहद प्रधानता दी जाती हो वहाँ दहेज में मिलने वाले मुफ्त के पैसों को कोई कैसे छोड़ेगा ? यह प्रश्न विचारणीय है। स्त्री पर होने वाले अत्याचारों में बाल विवाह, बलात्कार और उसे 'मंगली' ठहराना भी है। उन्होंने धार्मिक विसंगतियों, ज्योतिष विद्या की निरर्थकता, भाग्यवाद और धार्मिक पाखंडों को अपने व्यंग्यों का निशाना बनाया है। उन्होंने धर्म का धंधे से मिलन, व्यक्ति के चरित्र के दोहरेपन जैसी विडम्बनाओं का भी रेखांकन किया है। उन्होंने हिन्दू, इस्लाम और जैन धर्मों में प्रचलित अंधविश्वासों की आलोचना भी की।

TH-13490

परसाई जी बेहद आशावान व्यक्ति थे। वे युवा पीढ़ी पर विश्वास करते थे। वे जानते थे कि यह पीढ़ी पुराने विचारों, रूढ़ मान्यताओं, अंधविश्वासों तथा समाज को जड़ बना देने वाली परम्पराओं पर विश्वास नहीं करेगी। यह पीढ़ी किसी भी अवैज्ञानिक चीज पर विश्वास नहीं करेगी। रूपक के माध्यम से वे अपनी मान्यता को प्रकट करते हुए कहते हैं कि यह पीढ़ी उन श्रवण कुमारों की तरह नहीं है जिनके कंधे दुख रहे हैं और फिर भी अपने माता–पिता को तीर्थों की सैर करा रहे हैं। अब नए श्रवण कुमार पैदा हो गए हैं। इनके कंधे दुखते ही वे काँवड़ हिलाने लगते हैं, लेकिन उनका यह विश्वास पूर्णतः प्रतिफलित नहीं हुआ। इस युवा पीढ़ी के भी दो रूप परसाई जी के सामने प्रकट हुए। एक वह जो रूढ़िवाद में विश्वास नहीं करती और प्रगतिशील जीवनमूल्यों को अपने आचरण और व्यवहार में उतारने लगी है। दूसरी वह जो पुरानी पीढ़ी से प्रतिक्रिया और अवैज्ञानिक जीवन मूल्यों को सीधे–सीधे अपने जीवन में उतार लेती है। पुरानी पीढ़ी युवा पीढ़ी के ऐसे लोगों की चेतना को जड़ बना देती है, उनके विवेक को खा जाती है। युवा पीढ़ी के इन दोनों रूपों की स्पष्ट अभिव्यक्ति परसाई जी के व्यंग्यों में देखने को मिलती है। इस युवा पीढ़ी के बहुत से लोग जाति के बंधन को तोड़कर प्रेम विवाह कर लेते हैं और बहुत से लोग अभी भी जाति बंधनों में जकड़े हुए पड़े हैं। ऐसे लोग पुरानी पीढ़ी के 'आदमखोर' संस्कारों को बड़े प्रेम से अपने गले मढ़ लेते हैं। इन रूढ़ जीवनमूल्यों से चिपके रहने वाले व्यक्ति उच्च शिक्षा प्राप्त होते हैं और विज्ञान से परिचित भी। यह विडम्बना है। इस युवा पीढ़ी के दोनों रूपों को 'कंधे श्रवण कुमार के' तथा अन्य व्यंग्यों में देखा जा सकता है।

परसाई जी को समाज की मानसिकता की समझ बहुत गहरी और सूक्ष्म थी। प्रत्येक समाज की अपनी परम्पराएँ होती है, विश्वास होते हैं। इनके प्रति समाज का लगाव होता है। ऐसे लोगों की दृष्टि में परम्परा और मूल्य स्थायी और शाश्वत होते हैं। परम्पराओं को ये लोग अपने पूर्वजों से जोड़कर देखते हैं, इसलिए वे इनके लिए वेहद

'पवित्र' और 'पूज्य' होती हैं। इनकी दृष्टि में हर प्राचीन चीज श्रद्धा की वस्तु होती है, पर जब इनके विश्वास टूटते हैं तो इन्हें बेहद पीड़ा होती है। परसाई जी के व्यंग्यों में ऐसे समय ये लोग दयनीय नजर आते हैं और हास्यास्पद भी।

इस देश की जनता के बहुसंख्यक हिस्से की एक बड़ी कमजोरी यह है कि इनके जो जीवनमूल्य हैं, उन्हें ही वह श्रेष्ठ मानती है। किसी अन्य देश के या हमारे देश के ही प्रगतिशील जीवनमूल्यों को जनता का यह हिस्सा हेय मानता है। जो स्त्रियाँ स्वतंत्र हैं, घर की चारदीवारी में कैद नहीं हैं और जिन्होंने बहुत सी प्रथाओं को जड़ समझकर छोड़ दिया है, उन्हें (स्त्रियों और पुरुषों तक को) समाज का हिस्सा उच्छृखंल मानता है। इस हिस्से की सबसे बड़ी समस्या यह रही है कि जब भी इनके सामने किसी समुदाय विशेष के प्रगतिशील जीवनमूल्यों और उसके विकसित स्वरूप का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है तो ये अपनी परम्पराओं और संस्कृति की दुहाई देने लगते हैं। परसाई जी की दृष्टि में यह 'हीनता का अति राष्ट्रवाद' है।

परसाई जी ने शिक्षण संस्थानों की असलियत भी बतलाई है, उनमें विद्यमान विसंगतियों का पर्दाफाश किया है। उन्होंने विद्यालयों से विश्वविद्यालयों तक में विद्यमान शिक्षा के स्वरूप पर चर्चा की है। शिक्षा का आरंभिक चरण विद्यालय होता है। इन्हीं में बच्चों को चरित्र निर्माण की शिक्षा दी जाती है। माना जाता है कि देश का भविष्य इन्हीं पर टिका होता है क्योंकि आगे जाकर देश के भविष्य यही होंगे। पर यह एक आदर्श रूप है, वास्तविकता कुछ और कहती है। बच्चों में कुछ अच्छी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ होती हैं, जिनका दमन भी इन्हीं विद्यालयों में होता है। इन्हें पनपने नहीं दिया जाता है। शिक्षकों का मूल्यबोध भी सामंती दौर का होता है। जैसा मूल्यबोध शिक्षकों के पास होता है, वैसा ही वे विद्यार्थियों को संप्रेषित करते हैं और फिर पैदा होती है– रूढ़ जीवनमूल्यो को धारण करने वाली जमात। आगे जाकर वे भी यही शुभ कार्य करते हैं। शिक्षकों के पास कोई वैज्ञानिक चेतना नहीं होती। शिक्षक नैतिक चारित्रिक मूल्यों के साथ–साथ अनायास ही प्रतिक्रियावादी मूल्यों की शिक्षा भी बच्चों को दे देते हैं। ऐसा महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों तक में होता है।

परसाई जी ने अपने जीवन में अध्यापन का कार्य किया था। यही कारण है कि शैक्षणिक शिक्षण संस्थानों में होने वाली प्रायः हर गतिविधि का उन्हें बेहतर ज्ञान था। शिक्षक अपने कर्त्तव्य भूल चुके हैं, वे छात्रों के अंक बढ़ाने से लेकर उन्हें उत्तीर्ण कराने जैसे अनैतिक कार्य करते हैं। अध्यापक पढ़ाना नहीं चाहते है और छात्र पढ़ना नहीं चाहते। अध्यापन को लेकर छात्रों और शिक्षकों में आरोप–प्रत्यारोप की प्रवृत्ति, नौकरी के बाद अध्यापकों द्वारा अध्ययन करना बंद कर देना और छात्रों द्वारा की जाने वाली शिक्षकों की चापलूसी जैसी विसंगतियों की परसाई जी ने आलोचना की है। यह शिक्षालयों का गिरता और बिगड़ता स्तर है। अध्यापकों के गैर जिम्मेदार चरित्र की

वजह से ही शिक्षा का यह स्तर गिरता जा रहा है। परसाई ने हमारी शिक्षा व्यवस्था पर ही एक प्रश्नचिह्न लगा दिया है कि क्या कारण है कि परीक्षा के समय परीक्षार्थी भयभीत हो जाते हैं? इसका कारण शिक्षा व्यवस्था की खामियाँ हैं। शिक्षा के ऐसे रूप को देखकर ही परसाई जी ने शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तन की माँग की थी।

यह तो छोटे शिक्षण संस्थानों की बात है। विश्वविद्यालयों की हालत तो और भी चिंताजनक है। सबसे पहले परसाई जी ने विशविद्यालयी छात्र राजनीति की दिशाहीनता पर व्यंग्य किया है। उन्होंने बताया कि छात्र नेता संपन्न परिवारों के होते हैं छात्र राजनीति में वे अपना स्वार्थ देखते हैं। उन्हें इस बात से कोई मतलब नहीं कि समाज और देश के प्रति उनके भी कुछ कर्त्तव्य हैं। विश्वविद्यालयों में शोध का गिरता स्तर शोध– निर्देशक और शोध कर्ताओं के अपने कर्त्तव्यों के अपने कर्त्तव्यों के प्रति निष्ठा का अभाव, शोध–छात्राओं का अपने ही शोध–निर्देशक और शोध–कर्त्ताओं के अपने कर्त्तव्यों के प्रति निष्ठा का अभाव, शोध छात्राओं का अपने ही शोध–निर्देशकों द्वारा किया जाने वाला यौन शोषण आदि प्रवृत्तियाँ उनके व्यंग्यों की विषय हैं। शिक्षा आज व्यवसाय का रूप ले चुकी हैं। निजी शिक्षण संस्थानों निरंतर बढ़ोत्तरी हो रही है। इन शिक्षण संस्थानों का असल लक्ष्य पैसे कमाना होता है। इससे शिक्षा की गुणवत्ता में गिरावट आ रही है। इस प्रकार जहाँ पैसे कमाना आदमी का ध्येय हो जाए वहाँ मूल्यों की कोई परवाह नहीं की जाती। निजी शिक्षण संस्थानों की निर्मिति कर और भी बहुत से लाभ प्राप्त किए जाते हैं। इस संबंध में उनका 'प्राइवेट कालेज का घोषणापत्र' व्यंग्य देखा जा सकता है।

बुद्धिजीवी वर्ग समाज का सबसे प्रबुद्ध वर्ग होता है। यह समाज का ऐसा वर्ग होता है जिसके पास समाज की गहरी समझ होती है। मसलन समाज में समस्याएँ कैसे पैदा होती हैं, कहाँ से पैदा हो रही हैं, कौन लोग हैं जो समस्याएँ पैदा कर रहे हैं, उनके दुष्परिणाम क्या हो रहे हैं और उन्हें किस प्रकार रोका जा सकता है। इसीलिए बुद्धिजीवी वर्ग समाज का सबसे महत्वपूर्ण वर्ग होता है। बुद्धिजीवियों का केवल इतना कार्य नहीं होता है किं वह एकांत साधना के माध्यम से चिंता करता रहे, अपितु उसकी सामाजिक जिम्मेदारियाँ भी होती हैं। उसे अपने आपको समाज से जोड़कर देखना होगा। समाज को सही दिशा देने में बुद्धिजीवी वर्ग की बेहद महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यदि समाज में स्थिति ऐसी हो गई है कि सामाजिक परिवर्तन बहुत जरूरी हो गया है तो उनका चिंतन करने के साथ–साथ सामाजिक आन्दोलनों में भाग लेना भी जरूरी हो जाता है। केवल चिंतन करने और समाज और सत्ता की विसंगतियों की आलोचना करने से समाज बदला नहीं जा सकता। मार्क्स का बहुत प्रसिद्ध कथन है कि "समालोचना का अस्त्र, निःसंदेह, अस्त्रों द्वारा समालोचना का स्थान नहीं ले सकता, भौतिक शक्ति को भौतिक शक्ति द्वारा ही उलटा जाना चाहिए।"[34] निःसंदेह चिंतन की बहुत बड़ी

महत्ता होती है, पर सामाजिक परिवर्तन चिंतन के साथ सक्रिय भागीदारी की भी माँग करता है। यहाँ का बुद्धिजीवी वर्ग अपने एकांगी स्वभाव की वजह से परसाई जी की आलोचना का पात्र बना है।

परसाई जी के व्यंग्यों में बुद्धिजीवियों की निष्क्रियता और स्वार्थपरता, समाज के प्रति गैर जिम्मेदारी तथा उनके प्रतिक्रियावादी चरित्र की आलोचना देखने को मिलती है। दिखावे और सुविधाभोग की प्रवृत्ति बुद्धिजीवियों में काफी है। शहरों में जो कांफ्रेंस, सेमिनार आदि आयोजित किए जाते हैं, उनमें बुद्धिजीवी ही शिरकत करते हैं। इन आयोजन के अपने उद्देश्य होते हैं। ये बेहतर व्यवस्था की कामना से आयोजित होते हैं, लेकिन इन्हीं में बुद्धिजीवी अपना स्वार्थ भी सिद्ध करते हैं। इस प्रकार एक तरफ तो देश की समस्याओं के प्रति अपने आपको जागरूक दिखाना तो दूसरी तरफ अपने स्वार्थ सिद्ध करना, यह उनके चरित्र का दोहरापन है, जिसकी तीक्ष्ण आलोचना परसाई जी ने की है।

योग्यता की कद्र न करने की प्रवृत्ति को परसाई जी घातक मानते थे। बहुत बार ऐसा होता है जब किसी व्यक्ति को ऐसे पद पर बिठा दिया जाता है जिसके वह योग्य नहीं होता। ऐसे कार्य उच्च पदस्थ अधिकारियों की मिलीभगत से होता है। ये अयोग्य व्यक्ति अपने ही सगे–संबंधियों में से होते हैं। विश्वविद्यालयों तक में अयोग्य अध्यापकों की नियुक्ति होती है। परसाई जी की दृष्टि में यह ऐसे लोग हैं जो 'एक्सीडेंट' से बुद्धिजीवी हो गए हैं।

हरिशंकर परसाई का व्यंग्य साहित्य निम्नवर्गीय समस्याओं, उनके सुख–दुःख, चिंताओं और आकांक्षाओं से भरा पड़ा है। निम्नवर्ग में वे लोग आते हैं जिन्हें अपनी मूलभूत आवश्यकताओं तक की पूर्ति के लिए अपने जीवन में कठिन संघर्ष करना पड़ता है। उन्होंने इस वर्ग की पीड़ाओं को न केवल बहुत नजदीक से देखा था, अपितु इस तरह का जीवन भी व्यतीत किया था। विशेषतः उनका छात्र जीवन ऐसा ही रहा था। यह समाज का शोषित वर्ग है। एक तरफ समाज का यह वर्ग है जिसका बहुविध शोषण हो रहा है और दूसरी तरफ शोषक वर्ग है जो ऐश की जिंदगी गुजार रहा है। इस शोषक वर्ग में पूँजीपति, शासक और बहुत कुछ मध्यवर्ग भी है। परसाई जी के व्यंग्यों में जो भारी मात्रा में आक्रोश व्यक्त हुआ है उसके मूल में निम्नवर्गीय जनता की दयनीय स्थिति ही है। निम्नवर्ग को अपनी जीविका के निर्वाह में कठिन संघर्ष करना पड़ रहा है। इस वर्ग की गरीबी तथा उसके अभावों से भरे हुए जीवन के बेहद मर्मस्पर्शी चित्र उनके व्यंग्य साहित्य में देखे जा सकते हैं। वे गरीबी को सामाजिक बुराई के रूप में देखते थे। उनकी दृष्टि में गरीब कोई होता नहीं, अपितु बनाया जाता है। इस गरीबी को समाप्त भी किया जा सकता है और एक बेहतर व्यवस्था की निर्मिति की जा सकती है। उनकी नजर में वैज्ञानिक समाजवाद ऐसी ही व्यवस्था थी। निम्नवर्ग के लिए इस

व्यवस्था से बेहतर कोई और व्यवस्था नहीं हो सकती। यह तय है कि समाजवाद फिलहाल 'यूटोपिया' क्यों ही न हो; पर जब तक यह व्यवस्था नहीं होगी, तब तक निम्नवर्गीय जनता के शोषण का अंत नहीं होगा। हरिशंकर परसाई का सबसे बड़ा महत्व इस बात से आँका जाएगा कि उन्होंने न केवल पूँजीवादी जनतंत्र की निरर्थकता और अनुपयोगिता सिद्ध की, अपितु लोगों में व्यापक स्तर पर यह चेतना भी पैदा की कि समाजवाद से बेहतर निम्नवर्ग के लिए कोई व्यवस्था नहीं है। उन्होंने जितने लोगों में सामाजिक परिवर्तन की चेतना पैदा की, उससे कहीं ज्यादा ऐसे लोगों की संख्या थी जो सामाजिक परिवर्तन में विश्वास नहीं करते थे। ऐसे लोग सामाजिक परिवर्तन का विरोध भी करते हैं। इनके अपने स्वार्थ होते हैं। परसाई जी ने बहुत से व्यंग्यों में 'हिंसा' तक करने की चेतना पैदा की। स्थिति यह हो गई है कि 'हिंसा' किए बगैर कुछ नहीं मिलने वाला। वे पहले ऐसे साहित्यकार हैं जिन्होंने 'हिंसा' का इतने व्यापक धरातल पर समर्थन किया। उनके यहाँ 'हिंसा' भी सकारात्मक मूल्य बनकर आती है। जब गरीबी मिटती नजर नहीं आती हो, आर्थिक विषमता की खांई और ज्यादा गहरी तथा चौड़ी होती जा रही हो, तब ऐसी स्थिति में इसके सिवाय और कोई उपाय भी नहीं है।

निम्नवर्ग के दुःखों, उसकी पीड़ाओं को परसाई जी ने बहुत गहरे में उतरकर महसूस किया। जिस वर्ग को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ बुनियादी चीजों की जरूरत होती है, जब कुछ दिन के लिए उसे ये न मिलें तो उनकी स्थिति क्या होगी और अभाव के बाद अन्य मिले तो कैसी खुशी होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है। लेकिन यह खुशी स्थायी नहीं होती। 'गेहूँ का सुख' बहुत जल्द 'अन्य की मौत' में बदल सकता है और बदलता भी है। इसके बाद उनकी जो स्थिति होगी उसे परसाई जी के व्यंग्य बेहद करूणा के साथ अभिव्यक्त करते हैं। निम्नवर्गीय गरीबी और उससे उत्पन्न अभावों के अद्‌भुत चित्र परसाई जी के यहाँ देखे जा सकते हैं। एक ऐसा ही चित्र जो किसी अन्य साहित्यकार के यहाँ अब तक देखने को नहीं मिला, वह परसाई जी की 'रामदास' कहानी में मिलता है– "पर रामदास अपने ही विचारों में इतना डूबा रहता है कि बाकी बहुत कुछ भूल जाता है। कभी आनंद जी मोहनबाबू बुलाने भेजते हैं तो वह सोहन बाबू को बुला लाता है और जब उसे भूल बतलाई जाती है तो वह एकदम आँखे बंद करके कहता है, "ठहरिए जरा सोच लेने दें।" और फिर अंगुली से ठोंका मारकर सोचेगा, तब कहेगा, "हाँ याद आया, गलती हो गई, खैर!" और तुरंत मोहनबाबू को बुलाने चल देगा। कई बार वह बाजार से आलू के बदले करेला, पान के बदले सिगरेट और लौंग के बदले इलायची ले आया है।"[35] सवाल यह है कि व्यक्ति की मानसिक स्थिति ऐसी क्यों हो जाती है? जो व्यक्ति बेहद गरीबी में अपना जीवन व्यतीत कर रहा हो, जिसका परिवार कष्टों में हो और उसे कोई रास्ता न सूझ रहा हो, ऐसे व्यक्ति का हर समय चिंता में डूबे रहना स्वाभाविक है। उसकी स्थिति रामदास जैसी ही हो

जाएगी। चिंता में निमग्न व्यक्ति अंधा, बहरा कुछ भी हो सकता है। परसाई जी ने निम्नवर्ग के शोषण में अर्थसत्ता और राजसत्ता के साथ धर्मसत्ता को भी जिम्मेदार ठहराया है।

परसाई जी गाँधी जी का बहुत सम्मान करते थे। वे उन्हें अद्‌भुत व्यक्ति मानते थे। परसाई जी के मन में गाँधी जी के प्रति अपार श्रद्धा थी, फिर भी उन्होंने गाँधी जी के 'ट्रस्टीशिप' सिद्धांत की घोर आलोचना की; क्योंकि यह सिद्धांत निम्नवर्गीय जनता के शोषण में सहायक होता है और पूँजीपतियों को फायदा पहुँचाता है। इसे 'सोने का साँप' व्यंग्य में देखा जा सकता है।

यह देश हजारों सालों से संस्कृतियों के समन्वय का देश रहा है। बहुधर्मी देश है यह, पर देश के आजाद होने से पहले से ही यहाँ सांप्रदायिकता उभरकर आई और स्वाधीन भारत में भी बनी रही। इस सांप्रदायिकता से परसाई जी काफी समय से अपने व्यंग्यों के माध्यम से लड़ते आ रहे हैं। 'जनसंघ' एक हिन्दू सांस्कृतिक संगठन है जो इस देश में काफी समय पहले से सांप्रदायिक दंगों की स्थिति तैयार करता रहा है। यह प्राचीन संस्कृति के दकियानूसी पक्षों को फिर से हवा दे रहा है। पुनरुत्थानवाद चाहता है। इसके लिए अतीत में जो कुछ था, वही श्रेष्ठ है। बाकी सारे नवीन जीवनमूल्य इसकी दृष्टि में हेय हैं। यह रूढ़ियों को ही संस्कृति मान बैठा है। परसाई जी संस्कृति को स्थिरगति, जड़ और शाश्वत नहीं मानते। उनकी दृष्टि में संस्कृति परिवर्तनशील है, प्रगतिशील है, उच्च जीवनमूल्यों का समुच्चय है। वे लिखते हैं– "रूढ़ियाँ संस्कृति नहीं हैं। सारी परम्पराएँ पालते जाना भी संस्कृति नहीं हैं। परम्पराएँ छूटती भी जाती हैं और नई परम्पराएँ ग्रहण की जाती हैं।"[36] आगे वे लिखते हैं – " संस्कृति जीवनमूल्यों का समुच्चय है। ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में मनुष्य जातियाँ इन कल्याणकारी मंगलमय जीवनमूल्यों को खोजती हैं, अंगीकार करती हैं और जीवन में प्रतिफलित करती हैं।"[37] ये 'कल्याणकारी मंगलमय जीवनमूल्य' वे हैं जो मनुष्य का उदात्तीकरण करती हैं। इन जीवनमूल्यों को क्षति पहुँचाने वाले तत्वों से परसाई जी ने लड़ाई लड़ी है।

परसाई जी कलाओं को समाज सापेक्ष मानते थे। ये समाज निरपेक्ष नहीं हो सकतीं। उनकी दृष्टि में साहित्य हो या फिल्म, इन्हें समाज का वृहत्तर यथार्थ प्रस्तुत करना चाहिए। व्यक्ति समाज निरपेक्ष नहीं हो सकता। एक व्यक्ति का जीवन सामाजिक स्थितियों से प्रभावित होता है। उन्हीं से जोड़कर व्यक्ति का जीवन देखा जाना चाहिए। इस यथार्थ के अभाव में उनके द्वारा की गई आलोचना को 'एक मादा दूसरी कुड़ी' व्यंग्य में देखा जा सकता है। उन्होंने स्वतंत्रता के बाद की कुछ साहित्य प्रवृत्तियों और साहित्य जगत की विसंगतियों पर भी व्यंग्य किए हैं। 'कल्पना' पत्रिका के 'और अंत में' स्तम्भ में ऐसे ही व्यंग्य छपते थे। समकालीन साहित्य जगत की हलचलों पर इतने व्यापक स्तर पर पहले ऐसे व्यंग्य नहीं लिखे गए हैं। दिखावे की प्रवृत्ति पर उन्होंने

काफी व्यंग्य लिखे हैं। कारण यह है कि व्यक्ति की मानसिकता ही कुछ इस तरह हो गई है मानो इसके अभाव में जीवन, जीवन ही नहीं है। दिखावे की यह प्रवृत्ति राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक सब क्षेत्रों में है। 'प्रेमचंद के फटे जूते', 'सहानुभूति', 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' ऐसे ही व्यंग्य हैं। ऐसी ही एक और प्रवृत्ति है निंदा करना। निंदा किए बगैर बहुत से लोगों को सुख नहीं मिलता। निंदा करने के बहुत से कारण हैं। यह ईष्या या द्वेष प्रेरित होती हैं। यह प्रवृत्ति लोगों में इतने व्यापक स्तर पर विद्यमान है कि परसाई जी ने इसे व्यंग्यात्मक लहजे में 'निंदा रस' नाम दिया है। उनके कुछ व्यंग्य ऐसे हैं जिनमें यह बताया गया है कि विगत, वर्तमान और अनागत में किसी भी तरह के संबंध न खोजना तथा इन्हें एक–दूसरे से पृथक मानना, मनुष्य जीवन को टुकड़ों में बाँटकर देखने के बराबर है। आज हम किस स्थिति में हैं, अच्छी या बुरी, कुछ विकास किया है या प्रतिक्रियावादी हुए हैं, इस बात का पता अतीत को वर्तमान से जोड़कर देखने पर ही चलता है और फिर भी इसी से यह भी निर्धारित किया जाएगा कि हम अपना भविष्य कैसे चाहते हैं? कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अहंकारी होते हैं पर वे विनयी बने फिरते हैं। ऐसे लोगों पर परसाई जी ने व्यंग्य किया है। समस्या कैसी भी हो, परसाई जी उसे गंभीरता से लेते थे पर बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो गंभीर समस्याओं से अपने को निरपेक्ष बनाए रखते हैं या समस्या से परिचित हैं तो उसे हँसकर टाल देते हैं। ऐसे लोगों की परसाई जी ने कटु आलोचना की है। उन्होंने अखबार नवीसों पर भी व्यंग्य किया है, कारण यह है कि वे राजनेताओं की चालाकियों को समझे बगैर या इनसे परिचित होते हुए भी अपने अखबारों में उनका गुणगान करते हैं। अखबारों में चित्र छापकर उनका महिमामंडन करते हैं। परसाई जी ने लिखा है कि "अखबारनवीस प्रजातंत्र का 'वॉचडॉग' होता है। वह रखवाली करता है, दुम नहीं हिलाता।"[38] लेकिन पत्रकारों का अपने दायित्वों के प्रति गैर जिम्मेदारी से भरा हुआ रूप भी उभरकर सामने आता है। उन्होंने उन प्रेमी–प्रेमिकाओं पर भी व्यंग्य किया है जो समाज से विद्रोह तो करते हैं, पर उनका यह विद्रोह ज्यादा दिन तक नहीं चलता है और वे आत्महत्या कर लेते हैं। उनमें संघर्ष करने की क्षमता कम होती है।

हरिशंकर परसाई ने अपने व्यंग्यों में मार्क्सवादियों की भी आलोचना की है। उनके सिद्धांत और व्यवहार में अंतर होने के कारण यह आलोचना की गई है। मार्क्सवाद जीवन का वैज्ञानिक दर्शन है। इसका विज्ञान के साथ सीधा और गहरा संबंध है इसलिए मार्क्सवादी का वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न होना स्वाभाविक है। रूढ़ियों का पालन मार्क्सवादी का अक्षम्य अपराध है। कुछ मार्क्सवादी ऐसे भी मिल सकते हैं जो रूढ़ियों से चिपके हुए होते हैं। ऐसे मार्क्सवादी दिखावटी होते हैं। अगर अपने जीवन में कुछ ऐसा घट रहा है कि जिसे अवैज्ञानिक कहा जा सके, उसका विरोध किया जाना जरूरी है, उसे त्यागना जरूरी है। यह एक मार्क्सवादी का कर्त्तव्य है। परसाई जी का ऐसा ही

एक व्यंग्य है– 'संस्कारों और शास्त्रों की लड़ाई', जिसमें एक मार्क्सवादी को अपने सामाजिक संस्कारों से चिपका हुआ बताया गया है। उसमें इतना साहस नहीं है कि वह ऐसे संस्कारों का विरोध कर सके। वह अपने परिवार के अवैज्ञानिक दृष्टि रखने वाले लोगों के सामने अपनी चेतना गिरवी रख चुका है। परसाई जी अपने इस व्यंग्य में एक ऐसे ही मार्क्सवादी व्यक्ति का जिक्र करते हैं, जिसके पिता की मृत्यु हो गई थी। उन्होंने मुंडन करा रखा था, लेकिन वे 'पक्के' मार्क्सवादी भी थे। उन्होंने मार्क्सवाद को 'बीस सालों से पिता' मान रखा था। परसाई जी की दृष्टि में 'उन्होंने खुद अपने हाथों मार्क्सवाद का मुंडन कर दिया था। उनके हाथ में एक छोटी सी थैली देखकर– मैंने पूछा, "इसमें क्या है?" बोले, "उनकी राख है। तुम्हे इतना भी नहीं मालूम?" मैंने कहा, "मैं समझा, इसमें द्वंद्वात्मक भौतिकवाद है जिसका संगम में विसर्जन होगा।" पहले वे चिढ़े। फिर कहने लगे, "यार, यह बड़ा विकट संघर्ष है। एक तो संस्कार और परिवार की भावना।"[39] एक अन्य व्यंग्य 'अति क्रांतिकारी' में भी परसाई जी ने 'मार्क्सवादियों' की आलोचना की है।

सहनशीलता और अप्रतिरोध की प्रवृत्ति पर बहुत से व्यंग्य परसाई जी के यहाँ देखे जा सकते हैं। समाज, राजनीति तथा अन्य क्षेत्रों में जो विसंगतियाँ आई हैं, उनके लिए केवल उन लोगों को जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता है जो इन्हें पैदा कर रहे हैं, अपितु समाज भी इसके लिए जिम्मेदार है। संघर्ष का नितांत अभाव है लोगों में, विकृतियों का कोई विरोध नहीं। समाज के मूल्य ही बदल गए हैं। अब वे प्रतिरोध को ही गलत मान बैठे हैं। लोग बीच का रास्ता चुनने लगे हैं। सही कार्य के लिए संघर्ष करना पड़ता है और उलझना भी। लेकिन समाज के एक बड़े हिस्से में ऐसे व्यक्ति को शरीफ मान लिया जाता है जो बिल्कुल भी विद्रोह नहीं करता। ऐसा व्यक्ति परसाई जी की दृष्टि में 'ठंडा शरीफ आदमी' है। जो लोग यह कहते हैं कि 'हस्ती मिटती नहीं हमारी', अप्रतिरोध और सहनशीलता की मानसिकता हो जाने पर ऐसे लोगों की कोई भी हस्ती नहीं मिटाना चाहेगा।

परसाई जी ने समाज में व्यापक स्तर पर घर कर गई ऐसी जड़ मानसिकता को खत्म करने के लिए बड़ा संघर्ष किया। अपने व्यंग्यों में परसाई जी की मूल चिंता मूल्यों का यह विघटन ही थी। उन्होंने समाज में विद्यमान विसंगतियों से लोगों को परिचित कराया, उनके अच्छे–बुरे चरित्र से भी परिचित कराया। परसाई जी ने जीवन को बहुत गहराई से देखा, और उसका विश्लेषण किया तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान विसंगतियों को पहचान कर उन्होंने अपने व्यंग्यों का निशाना बनाया। परसाई जी का यथार्थ बहुत व्यापक था। उन्होंने समकालीन जीवन को काफी बड़े रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया। ठीक कहा विश्वनाथ त्रिपाठी ने कि "हरिशंकर परसाई वर्तमानता के रचनाकार हैं।"[40] ये बड़ी महत्वपूर्ण बात है कि जिन समस्याओं, विसंगतियों से हम

परिचित हैं और इस तरह परिचित हैं कि हमारे सामने वे साधारण और सामान्य हो गई हैं, उन्हें भी वे एक नया रूप अपने व्यंग्यों में दे देते हैं और विसंगतियाँ सचमुच में हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण और चिंतनीय चीज बन जाती हैं। उनपर हम सोचने के लिए बाध्य होते हैं। जिन विसंगतियों के प्रति हमारी संवेदना मर चुकी है और जो विसंगतियों के रूप में नजर ही नहीं आती, उनके प्रति परसाई जी ने फिर से संवेदना जगाई। यह परसाई जी के व्यंग्यों का असाधारण महत्व है। उनके व्यंग्यों की अपनी कुछ विशिष्टताएँ हैं जिनके कारण उनके व्यंग्य एक धारदार रूप पा सके हैं।

3. परसाई के व्यंग्यों का वैशिष्ट्य

एक जगह परसाई जी ने तुलसीदास के संबंध में लिखा है कि 'तुलसी के अनुभवों का क्षेत्र विशाल था। जीवन चिंतन गहन था। जीवन की हर स्थिति के बारे में सोचा और निष्कर्ष में नीति वाक्य बोले।' यह बात परसाई जी के संबंध में बहुत कुछ ठीक बैठती है। परसाई जी का अनुभव जगत और चिंतन जगत व्यापक और गहरा था। उन्होंने भी जैसे हर स्थिति के बारे में सोचा और उनका विश्लेषण किया, पर चयन उन्हीं जीवन स्थितियों का किया जिनमें उन्हें किसी न किसी प्रकार की विसंगति नजर आती थी। परसाई जी ने काफी कुछ साहित्य रचा, उसमें उनके अनुभव जगत की व्यापकता को देखा जा सकता है, लेकिन परसाई जी के यहाँ निष्कर्ष में नीति वाक्य नहीं, अपितु व्यंग्य की प्रहारात्मक क्षमता का तीक्ष्णबोध देखने को मिलता है। अनुभव की व्यापकता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि उनके प्रायः हर एक व्यंग्य–निबंध में तीन–तीन, चार–चार छोटे–छोटे घटनात्मक प्रसंग देखने को मिलते हैं। कही–कही उनकी संख्या ज्यादा भी हो जाती है। असल बात यह है कि ये छोटे–छोटे घटनात्मक प्रसंग अपना एक आख्यान रच लेते हैं। परसाई जी उस आख्यान को बेहद कलात्मक और संप्रेषणीय बनाकर छोटी–छोटी स्थितियों और मनोभावों के साथ पेश करते हैं। ऐसे प्रसंगों में किसी भी तरह की शुष्कता का लेशमात्र नहीं होता। इनमें गजब की नाटकीयता भी देखने को मिलती है। यह नाटकीयता स्थितियों की हो सकती है, भावों की हो सकती है या फिर पात्रों के चरित्र की हो सकती है। निबंध का स्वरूप ही ऐसा है कि इसमें ये अनुभव खंड सहजता से खप जाते हैं। सच कहा जाए तो असल कलात्मकता छोटी–छोटी स्थितियों को चुनकर प्रस्तुत कर देने में है, जो किसी विसंगति का उद्घाटन करती है।

परसाई जी की रचनाओं को विशिष्ट बनाने वाली एक और विशेषता है– प्रस्तुतीकरण का तरीका। इस क्षेत्र में परसाई जी को महारत हासिल थी। दरअसल, परसाई जी ने शैलियों के 'फॉर्म' को लिया और इस 'फॉर्म' में प्रस्तुतीकरण का जो ढंग

होता है उसी के अनुरूप वे अपनी बात कहते चले हैं। बात को कहीं–कहीं तोड़ा–मरोड़ा भी गया है। ऐसे समय उनकी विश्लेषण क्षमता देखने लायक होती है। उन्होंने लोककथा शैली का प्रयोग किया है और मिथक शैली का भी। मिथक शैली परसाई जी को बेहद पसंद थी। वे पुराणों से मिथक उठाते हैं। उन मिथकों में ही परसाई जी कुछ ऐसा खोज लेते हैं जो उनमें (या उस दौर में) और आज के युग में एक खास संबंध बन जाता है। मिकि समकालीन जीवन की विसंगतियों के अनावरण में योग देने लगते हैं। इस संबंध में परसाई जी की देखनी की कला को विशेष महत्व देना होगा। उनके विश्लेषण का तरीका अद्‌भुत था। उनकी दृष्टि में ही ऐसा कुछ विशेष था कि मिथकीय पात्र हनुमान एक तरफ विश्व का 'प्रथम स्मगलर' नजर आता था तो दूसरी तरफ विश्व का 'प्रथम साम्यवादी' भी। बड़ी महत्वपूर्ण बात है कि यह मिथकपन तो गौड़ हो जाता है पर मिथक से जुड़ी हुई चमत्कार के साथ पैदा होने वाली विसंगतियाँ महत्वपूर्ण हो जाती हैं। परसाई ने लोक में प्रचलित मान्यताओं, विश्वासों (जो अवैज्ञानिक हैं या अंध विश्वासपूर्ण) तक का प्रयोग कर विसंगतयों पर चोटे की हैं। वे अपनी बातों को मिथकों तथा जीवन जगत के किसी प्रसंग में इस तरह फिट करते हैं कि दोनों एक–दूसरे में घुल–मिल जाएँ। एक ऐसा ही लोक विश्वास है कि जमीन में दबे धन की रक्षा साँप करता है। जमीन जिसकी है उसे ही यह धन मिलेगा। यदि किसी ने साँप को परेशान करने की कोशिश की या असमय उस धन को निकालने की, तो धन गायब हो जाता है। इतना सा विश्वास है पर देखिए, परसाई जी कैसे इसी लोक विश्वास के माध्यम से गाँधी जी के 'ट्रस्टीशिप' सिद्धांत की कटु आलोचना करते हैं। 'सोने का साँप' उनका ऐसा ही व्यंग्य है। प्रस्तुतीकरण के ऐसे विविध रूपों का इस्तेमाल परसाई जी ने किया है। ठीक कहा विश्वानाथ त्रिपाठी ने कि ''संस्कृति, अतीत गौरव, पुराण गाथा, मिथक सब वर्तमान पर घटित हो रहे हैं। वर्तमान का चक्र इन्हें काट–छाँट, खराद रहा है।''[41] जब अपनी बात इस तरह के 'फॉर्म' में कही जाती है तो पाठक के मन में न केवल अर्थ का चमत्कार और जिज्ञासा पैदा होती है, अपितु विसंगतियाँ अद्‌भुत प्रभाव छोड़ जाती हैं। यह किसी बात को पठनीय, संप्रेषणीय और रोचक बनाने का एक अच्छा तरीका है। परसाई जी अपनी बात कहीं से भी कहना शुरू कर देते हैं और विसंगतियों तक पहुँचने में उन्हें बिल्कुल भी वक्त नहीं लगता। यदि वे जीवन की साधारण से साधारण स्थिति से भी अपनी बात शुरू करते हैं तो लक्ष्य पर बड़ी सहजता से पहुँच जाते हैं। वे कब, कहाँ, कैसे किसी प्रसंग को विडम्बनाओं की तरफ मोड़ दें, कुछ कहा नहीं जा सकता। पाठक उनकी इस विशिष्टता से दंग रह जाता है।

व्यंग्यों को प्रभावशाली बनाने के लिए वे दोहरे अर्थों वाले वाक्यांश भी निर्मित करते हैं। यहाँ अभिधापरक अर्थ भी महत्वपूर्ण होता है और व्यंजनापरक भी । दोनों ही अर्थ महत्वपूर्ण; पर एक गौण और दूसरा प्रधान। 'वह क्या था' व्यंग्य एक व्यक्ति के मरने के

साथ शुरू होता है। वे जैसे जिए, वैसे ही मरे। जीवन में कोई प्रतिरोध नहीं। एकदम सहनशील। एक शांत जिंदगी। व्यंग्य का 'मैं' बैठा सोच रहा है। एक व्यक्ति उनसे मृत व्यक्ति के संबंध में बार–बार पूछ रहा है, "वह क्या था?" तभी 'मैं' के पैर से केचुए का स्पर्श होता है। उन्हें किसी लिजलिजी चीज का अनुभव हुआ और पैर उठाकर जोर से पटका तथा केचुआ दूर जा गिरा। सामने वाला व्यक्ति फिर प्रश्न करता है, "बताइये क्या था वह?" और 'मैं' जवाब देता है, "केचुआ था।" 'मैं' के इस जवाब से अभिधापरक अर्थ भी पैदा हो रहा है और व्यंजना से मृत व्यक्ति के जीवन में लचीलेपन का बोध भी। यहीं अनायास ही व्यंग्य पैदा होता है। परसाई जी अपने व्यंग्यों में अन्य संदर्भों से बात करने का लहजा तक ले आते थे। उनके व्यंग्यों की आक्रामकता अधिकतर तब देखने में आती है जब वे अनुभव खंड के माध्यम से अपनी बात कह देते हैं और मूल बात को अपनी तरफ से दोबारा नहीं कहते।

परसाई ने अपने व्यंग्यों को प्रभावशाली बनाने के लिए कुछ और भी प्रयोग किए हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी कि वे निरर्थक विस्तार में नहीं फँसते। बात बढ़ाने में जो खतरे हैं, उनसे वे परिचित थे। बात को बढ़ाने से व्यंग्य की तीक्ष्णता के बेअसर या कमजोर होने का खतरा बराबर बना रहता है। परसाई जी को अपनी जो भी बात कहनी होती थी, उसे बहुत कम शब्द खर्च करके कहते थे। डॉ. नामवर सिंह एक जगह शाब्दिक मितव्ययता को 'व्यंग्य की जान' कहते हैं। परसाई जी कहीं 'पैरोडी' करते नजर आते हैं तो कहीं चमत्कार पैदा करने के लिए पहले सूत्र रख देते हैं और उसके बाद स्थिति। उनके व्यंग्यों के विम्ब देखने लायक होते हैं। विम्बों की भाव–गहनता चमत्कारिक होती है। उपमाएँ तक उनके व्यंग्य की प्रहारात्मक क्षमता में योग देने लगती हैं। उनके यहाँ रूपकों और सादृश्य विधान का सौंदर्य देखते ही बनता है। यहाँ परसाई जी की चयन की विशिष्टता को महत्व देना होगा। वे अपने व्यंग्य को रोचक बनाने के लिए विनोद भाव की सृष्टि किसी न किसी प्रकार कर ही लेते थे। उनका यह विनोद भाव गुदगुदाने से लेकर हँसाने तक का कार्य करता है पर सभी जगह यह विनोदभाव नहीं है। जहाँ वे किसी करुण प्रसंग की निर्मिति करते थे, उससे विनोदभाव को दूर ही रखते थे।

परसाई जी के व्यंग्यों में थोड़ा सा अवरोध पैदा करते हैं उनके वक्तव्य। उनके वक्तव्यों में पुनरुक्ति दोष रहता है और कहीं–कहीं ठहराव भी आता है। दरअसल, इन वक्तव्यों का इस्तेमाल परसाई जी ने अपनी सुविधा के लिए किया है। सुविधा उनके लिए यह थी कि वक्तव्यों के माध्यम से वे अपने व्यंग्यों के अनुभव खंडों में संबंध बना लेते थे। वक्तव्य उनके लिए वह सीढ़ी थी जिसपर चढ़कर वे एक अनुभव खंड को छोड़कर दूसरे अनुभव खंड की प्रस्तुति पर पहुँच जाते थे।

हरिशंकर परसाई जी का व्यंग्य साहित्य अधिकांशतः आत्मकथात्मक शैली में लिखा है। उनके व्यंग्यों के नायक 'मैं' की अपनी कमजोरी भी है। इस कमजोरी की तरफ संकेत देते हुए श्रीलाल शुक्ल ने ठीक लिखा है कि 'मैं' की "केवल व्यंजना में आस्था नहीं है। जिन चीजों की वह विशद व्याख्या देता है वे लाजमी तौर हमेशा उस व्याख्या के लायक नहीं होती। वह स्पष्ट को सुस्पष्ट करने का लालच मुश्किल से रोक पाता है और कभी–कभी अभिधा पर उतरकर सिद्धांत वाक्य बोलने लगता है। अपने व्यंग्य निबंधों में परसाई जी यहीं पाठक में अपने प्रति यह अपेक्षा जगाते हैं कि व्यंग्यकार की जगह अब वे पेशेवर समाज विश्लेषक के ही भूमिका क्यों न स्वीकार कर लें और थोड़ी देर के लिए अकादमीय स्तर पर ही क्यों न बात कर ली जाए।"[42] यह पाठको को सीधे–सीधे सम्बोधन है। असल में, उनके व्यंग्यों में आए इस ठहराव का कारण उनकी लोक शिक्षण की मनोवृत्ति है। उनके निबंध के रूप में लिखे गए व्यंग्यों की खासियत यह है कि उनमें आने वाले वक्तव्य चाहे अवरोध पैदा करें, और स्थिति में पहुँचे हुए नहीं होते हैं कि व्यंग्य रचना की प्रहारात्मक क्षमता को ही दबा दें। वास्तव में प्रभावकारी होती है उसकी व्यंग्यात्मकता ही और आने वाले वक्तव्य उसके सामने गौण हो जाते हैं। "जो भी हो, परसाई में एब्सर्ड को पकड़ने की आश्चर्यजनक क्षमता है।"[43] और यही सबसे ज्यादा प्रभावकारी भी है।

हरिशंकर परसाई के व्यंग्यों में खटकने वाली एक बात और है। उन्होंने सबसे ज्यादा व्यंग्य राजनीतिक विसंगतियों पर लिखे हैं। उनके राजनीतिक व्यंग्यों में बहुत से व्यंग्य अच्छे हैं, पर सारे नहीं। इन्हीं में उनके बहुत सारे व्यंग्य ऐसे हैं जो निहायत कमजोर हैं। वहाँ व्यंग्य की आक्रामकता, उसका सौंदर्य देखने को नहीं मिलता। किसी भी तरह की रोचकता का एकदम अभाव, संप्रेषणीयता की नितांत कमी वे निहायत अप्रभावकारी हैं। राजनीति विषयों पर लिखे ऐसे व्यंग्यों को इकट्ठा करके एक–एक करके पढ़े तो कहा जा सकता है कि पहला व्यंग्य पढ़ो और फिर अगला व्यंग्य पढ़ो और फिर तीसरा भी पढ़ लो। ये व्यंग्य कोई ऐसा प्रभाव डालने में अक्षम है कि उनपर थोड़ी देर रुककर सोच ही लिया जाए। शायद यही कारण रहा होगा कि परसाई जी के व्यंग्यों पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानी जाने वाली पुस्तक 'देश के इस दौर में' में विश्वनाथ त्रिपाठी ने राजनीतिक व्यंग्यों पर अति संक्षेप एक–डेढ़ पृष्ठ लिखकर छोड़ दिया है। ऐसे व्यंग्य अगर अप्रभावकारी हैं तो उसका कारण है–राजनीतिक हलचलों और घटनाक्रमों का वर्णनात्मक और विवरणात्मक रूप में प्रस्तुत होना। इनमें कहीं–कहीं कुछ अच्छी चीज देखी जा सकती हैं, लेकिन व्यंग्य एकदम अप्रभावकारी है।

परसाई जी ने अपने लेखों में कुछ जगहों पर अपने व्यंग्य के मूल में करुणा के होने की बात कही है; पर यह उतनी सत्य नहीं है। उनके कुछ ही व्यंग्यों के मूल में करुणा है जैसे– 'अन्न की मौत' आदि। किसी भी व्यक्ति में करुणा का भाव पैदा होने के लिए

जरूरी है कि रचना में करुण प्रसंग हों, उदास कर देने वाली स्थितियाँ हों। विकृतियों पर प्रहार करने का अपना सौंदर्य होता है पर जरूरी नहीं की विकृतियाँ करुणा का भाव पैदा कर ही दें। डॉ. वीर भारत तलवार ने अपने एक लेख 'हरिशंकर परसाई पर कुछ नोट्स' में ठीक सवाल उठाया कि परसाई जी द्वारा सिद्धांत रूप में कही गई करुणा की इस बात का व्यवहार में कितना पालन हुआ है। उनके व्यंग्यों के मूल में जितनी करुणा है उससे कई गुना ज्यादा गाम्भीर्य की मात्रा देखने को मिलती है। यह गंभीरता परसाई जी की रचनाओं का विशेष गुण है। यह गंभीरता उन्हें किसी भी तरह के विचलन से दूर बनाए रखती थी और सधी हुई विचार श्रृंखला की निर्मिति में योग देती थी। ऐसे समय परसाई जी में गजब का संयम देखने को मिलता है। वे भावनाओं में वह जाने वाले व्यक्ति नहीं थे। इस 'निर्मम भावुकतारहित दृष्टि' को उनके विचारों की तार्किकता में देखा जा सकता है। किसी भी विसंगति के निर्मम अनावरण में रचनाकार की तर्कणाशक्ति का बड़ा योगदान होता है। परसाई जी आवृत्त वस्तु को अनावृत्त करते समय अनेक तरह के गुल खिलाते थे। किसी भी तरह की झूठी विशिष्टता या झूठी प्रतिष्ठा का पानी उतारना तो कोई परसाई जी से सीखे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हरिशंकर परसाई कृत 'ऐसा भी सोचा जाता है' (निबंध संग्रह), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण–2001, पृष्ठ–136
2. महावीर अग्रवाल द्वारा संपादित– 'व्यंग्य सप्तक : एक' अंक–41–42, प्रकाशन, आदर्श नगर, दुर्ग (म.प्र.), जनवरी–जून–1999, पृष्ठ –478, शंकर पुणतांबेकर से महावीर अग्रवाल की बातचीत।
3. वही, पृष्ठ –404, सुदर्शन मजीठिया से महावीर अग्रवाल की बातचीत।
4. डॉ. राकेश वत्स द्वारा संपादित एवं संकलित–'आधुनिक काव्य विवेचना', मानविकी विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, संस्करण–2001, पृष्ठ –167, डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी कृत ''जन कवि' होने का अर्थ' (लेख)
5. सुरेशकांत कृत 'हिन्दी गद्य लेखन में व्यंग्य और विचार', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण–2004, पृष्ठ –73
6. डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी कृत 'देश के इस दौर में', परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–1988, पृष्ठ –33
7. डॉ. नामवर सिंह कृत 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, नवीन संस्करण–1998, पृष्ठ –96
8. 'हिन्दी व्यंग्य : मूल्याँकन का प्रश्न' (लेख)– डॉ. विनय, 'आजकल' पत्रिका, अप्रैल–1992, सं.–सुरेश चंद शर्मा, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली
9. 'हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना', –संम्पादन–श्याम कश्यप, डॉ. कमला प्रसाद, खगेंद्र ठाकुर, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण–1986, पृष्ठ –345, मलय कृत 'व्यंग्य की प्रकृति और व्याप्ति' (लेख)
10. वही, पृष्ठ –347,
11. 'परसाई रचनावली–6' सम्पादक– कमला प्रसाद..., राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण, जनवरी–2005, पृष्ठ –249
12. हरिशंकर परसाई कृत 'ऐसा भी सोचा जाता है (निबंध संग्रह), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण–2001, पृष्ठ –135
13. राजेश कुमार कृत 'परसाई की पारसाई' : पराग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1989, पृष्ठ –21
14. 'परसाई रचनावली–6' सम्पादक– कमला प्रसाद..., राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण, जनवरी–2005, पृष्ठ –249

15. राजेश कुमार कृत 'परसाई की पारसाई' : पराग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1989, पृष्ठ –22
16. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'कबीर' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, आठवीं आवृत्ति–2000, पृष्ठ –131
17. वही, पृष्ठ –131
18. वही, पृष्ठ –131
19. 'परसाई रचनावली–1' सं.– कमला प्रसाद..., राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण, जनवरी–2005, पृष्ठ –313
20. हरिशंकर परसाई कृत 'तुलसीदास चंदन घिसै' (व्यंग्य संग्रह), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण (पेपर बैक्स) 2005, पृष्ठ –43
21. 'परसाई रचनावली–3', पृष्ठ –52
22. 'परसाई रचनावली–3', पृष्ठ –17
23. 'परसाई रचनावली–3', पृष्ठ –226–227
24. 'परसाई रचनावली–2', पृष्ठ –330
25. वही, पृष्ठ–330
26. पवन कुमार वर्मा कृत 'भारत के मध्यवर्ग की अजीब दास्तान' (अनुवाद–अभय कुमार दुबे), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण–1999, पृष्ठ –17
27. डॉ. वीर भारत तलवार कृत 'हरिशंकर परसाई पर कुछ नोट्स' (लेख), 'इन्द्रप्रस्थ भारती' (त्रैमासिक), वर्ष : 6, अंक–1, जनवरी–मार्च–1993, सं. विजय मोहन सिंह, प्रकाशन– हिन्दी अकादमी, नई दिल्ली, पृष्ठ –26
28. पूरन चंद जोशी कृत 'अवधारणाओं का संकट', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1995, पृष्ठ –103
29. वही, पृष्ठ –104
30. 'परसाई रचनावली–2', पृष्ठ –138
31. 'परसाई रचनावली–3', पृष्ठ –206–207
32. 'परसाई रचनावली–3', पृष्ठ –246
33. 'परसाई रचनावली–2', पृष्ठ –333
34. ये. स्तेपानोवा कृत 'मार्क्स–एक जीवनी' (हिन्दी अनुवाद), प्रगति प्रकाशन मास्को, संस्करण–1989, पृष्ठ –31
35. 'परसाई रचनावली–1', पृष्ठ –38
36. हरिशंकर परसाई कृत 'तुलसीदास चंदन घिसै', (व्यंग्य–संग्रह), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण (पेपर बैक्स) 2005, पृष्ठ –44

37. वही, पृष्ठ –46
38. 'परसाई रचनावली–6', पृष्ठ –29
39. 'परसाई रचनावली–3', पृष्ठ –317
40. विश्वनाथ त्रिपाठी कृत 'देश के इस दौर में' परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–1989, पृष्ठ –2
41. वही, पृष्ठ –12
42. 'आँखन देखी', सं. कमला प्रसाद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण–1981, पृष्ठ –428–429
43. वही, पृष्ठ –429

द्वितीय–अध्याय

मध्यवर्ग की अवधारणा और भारतीय मध्यवर्ग

1. वर्गीकरण का आधार
2. मध्यवर्ग : पहचान और परिभाषा
3. यूरोप में मध्यवर्ग का उदय, विकास और भूमिका
4. भारत में मध्यवर्ग का उदय और कारण
5. औपनिवेशिक भारत में मध्यवर्ग

कुछ लोग बड़े भोलेपन से यह मानने या मनवाने की कोशिश करते हैं कि दुनिया में अमीर और गरीब हमेशा से रहे हैं, बहुत हद तक इसमें सच्चाई है पर पूर्णतः नहीं। लेकिन इस तथ्य से इंकार करना संभव नहीं है कि अमीरी और गरीबी केवल मानव समुदाय की विशेषता है इसीलिए यह स्वयं मानव निर्मित है। निजी संपत्ति के उद्‌भव के साथ ही मानव समाजों में आर्थिक (उपभोग और जीवन यापन संबंधी) असमानता उत्पन्न हुई।[1] यह आर्थिक असमानता समय के साथ–साथ और बढ़ती गई तथा परिणामस्वरूप समाज विभिन्न विशेषाधिकार प्राप्त और अधिकारहीन समूहों में स्पष्ट रूप से विभाजित होता गया। प्राचीन और सामंती दौर में समाज अपरिवर्तनीय वंशानुगत श्रेणीक्रम में विभाजित हुआ। पूँजीवादी समाजों में जो स्पष्ट वर्ग विभाजन देखने को मिलता है, वह पहले विद्यमान नहीं था, क्योंकि पूँजीवाद से पहले के समाजों में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका थी, वे मूलतः 'धर्म आधारित' समाज थे। इसीलिए पूँजीवाद पूर्व समाजों में समूहों की प्राथमिक पहचान उनकी आर्थिक स्थिति से तय नहीं हुआ करती थी। इसके विपरीत पूँजीवाद समाज मूलतः 'अर्थ आधारित' समाज है,[2] – नतीजतन व्यक्ति की पहचान उसकी आर्थिक स्थिति से होती है और स्वयं आर्थिक हित ही विभिन्न समूहों के बनने–बिगड़ने का आधार बन जाते हैं।

आज अधिकांश विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि पूँजीवादी समाज में एक छोटा समुदाय ऐसा है जो भव्य और विलासितापूर्ण जीवन जी रहा है, जबकि दूसरे छोर पर एक विशाल जन समुदाय ऐसा है जो हर चीज का उत्पादन करता है लेकिन बेहद अभावग्रस्त और संघर्षमय जीवन जी रहा है। इन दो छोरों के बीच एक ऐसा समुदाय भी है जिसे मध्यवर्ग कहा जाता है।[3] मध्यवर्ग की अवधारणा, स्वरूप, चरित्र, भूमिका और भविष्य पर ढेरों विवाद हैं, लेकिन यह तथ्य है कि आज समाज के उच्चवर्ग, मध्यवर्ग और निम्नवर्ग में विभाजन को व्यापक स्वीकृति मिली हुई है। मध्यवर्ग को ठीक ढंग से जानने–समझने के लिए जरूरी है कि हम पहले 'वर्ग' को समझें।

1. वर्ग विभाजन का आधार

'वर्ग' शब्द एक व्यावहारिक संज्ञा है जिसका प्रयोग मनुष्यों के उस समूह के लिए किया जाता है जिनमें किसी प्रवृत्ति की समानता पायी जाती है। जब समाज का वर्गों में विभाजन किया जाता है तो इस विभाजन के केंद्र में यह प्रवृत्तिगत समानता रहती है। वर्ग (क्लास) शब्द के इतिहास पर विचार करते हुए रेमंड विलियम्स ने बताया है कि अपने शुरूआती दौर में यह शब्द किसी भी तरह के– यहाँ तक कि पौधों के– वर्गीकरण के लिए प्रयुक्त होता था, तब तक सामाजिक स्तर के लिए इस शब्द का

प्रयोग नहीं होता था। सामाजिक स्तरीकरण (निम्नवर्ग, मध्यवर्ग, उच्चवर्ग, श्रमिक वर्ग आदि) के लिए इस शब्द का प्रचलन 1770 से 1840 के बीच में हुआ।[4] मार्क्सवादी विश्लेषण के व्यापक प्रभाव के चलते बाद में वर्ग शब्द का सामाजिक–आर्थिक आशय ही प्राथमिक हो गया। इस अर्थ में किसी वर्ग का मतलब कुछ समान आर्थिक स्थितियों अथवा हितों वाले व्यक्तियों का समुच्चय है। एक ही वर्ग के लोगों में कुछ बातों को लेकर टकराव हो सकता है, लेकिन इस टकराव के बावजूद कुछ ऐसी चीजें होती हैं जो उन्हें एक साथ रखकर देखने के लिए बाध्य करती हैं।[5] आज का दौर पूँजीवाद का दौर है, इसमें प्रतियोगिता अत्यंत महत्वपूर्ण है। मार्क्स ने लिखा है कि प्रतियोगिता ही है जो व्यक्तियों को एक–दूसरे से पृथक करती है और इन व्यक्तियों को संगठनात्मक रूप भी प्रदान करती है। मार्क्स यह बात वर्गों (पूँजीपति और सर्वहारा) के टकराव और उनकी एकता के संदर्भ में कह रहे थे। जब एक ही वर्ग के लोगों में आपसी टकराव हो तो इस टकराव में उनके व्यक्तिगत हित महत्वपूर्ण हो उठते हैं लेकिन जहाँ हितों का संबंध साझे तौर पर वर्ग से हो तब उन्हीं लोगों में एकजुटता भी आ जाती है।

समाज का वर्गों में जो विभाजन किया जाता है उनमें ये हित महत्वपूर्ण होते हैं। ये हित कैसे पैदा होते हैं, इस संबंध में कुछ चीजों को जानना बेहद महत्वपूर्ण हैं। मार्क्स समाज में वर्ग विभाजन का आधार उत्पादन संबंधों को बताते हैं। टीवी बॉटमोर ने लिखा है कि मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार "सामाजिक वर्ग उत्पादन के साधनों के साथ अपने संबंधों (स्वामित्व या अस्वामित्व) से परिभाषित होते हैं।"[6] मार्क्स की दृष्टि में समाज में मुख्यतः दो वर्ग हैं– एक वे जो उत्पादन के साधनों के स्वामी हैं और दूसरे वे, जिनके पास जीविका के लिए अपने श्रम के सिवाय कुछ भी नहीं है। इन दोनों वर्गों के साथ मार्क्स एक और वर्ग के सापेक्षतः स्वायत्त अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और उसे निम्न पूँजीपति ('पेटी बुर्जुवा') का नाम देते हैं जो छोटे स्तर के उत्पादन के साधनों के स्वामी होते हैं।[7] आज समाज का विज्ञान और तकनीक दोनों के मामलों में बहुत विकास हुआ है, श्रम का और ज्यादा विभाजन हुआ है तथा सेवा क्षेत्रों में जबरदस्त बढ़ोत्तरी हुई है। भारत में विशेषकर यह काम आर्थिक उदारीकरण की शुरूआत के बाद हुआ है। आज इन दोनों महत्वपूर्ण वर्गों (पूँजीपति और मजदूर) के बीच एक तीसरे वर्ग की संख्या में बेतहाशा वृद्धि हुई है जिसकी समाज में एक महत्वपूर्ण भूमिका है। ऐसी स्थिति में मार्क्स के इस वर्ग विभाजन को देखकर यह सवाल खड़ा होता है कि उपरोक्त वर्ग विभाजन में समाज के प्रशिक्षित वर्ग को कहाँ रखा जाए? अलेक्जेंडर बुजुएव सर्वहारा के साथ नाइंसाफी करते हुए इस प्रशिक्षित वर्ग को भी सर्वहारा वर्ग में यह कहते हुए शामिल कर लेते हैं कि प्रशिक्षित या बुद्धिजीवियों का यह 'काफी बड़ा सामाजिक समूह' पूँजीपतियों को अपनी श्रमशक्ति बेंचता है और उनके लिए बेशी मूल्य भी पैदा करता है।[8] इसमें कोई शक नहीं कि इस आधार पर बुद्धिजीवी और सर्वहारा दोनों में समानता

है लेकिन ऐसी समानता केवल सतही ही कही जा सकती है। बुद्धिजीवी और सर्वहारा दोनों के कार्यों और जीवन स्तर में दूर–दूर तक कोई समानता नजर नहीं आती है इसलिए दोनों को एक वर्ग में रखना उचित नहीं है। यद्यपि पूँजीवादी व्यवस्था के आधारभूत रूप को लेकर मार्क्स ने जो वर्ग विभाजन किया है उसका असाधारण ऐतिहासिक महत्व है लेकिन पूरे मानव समुदाय को समेटने वाले वर्ग विभाजन के लिए कुछ दूसरी चीजों पर भी ध्यान देना जरूरी हो जाता है।

वर्ग विभाजन के लिए यह जानना महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति किन परिस्थितियों में जी रहा है। एमिल बर्न्स इन परिस्थितियों को बेहद महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार किसी वर्ग में वे लोग आते हैं जो "अपनी जीविका एक ही ढंग से कमाते हों।"[9] वर्ग विभाजन का यह तरीका भी बहुत ठीक नहीं कहा जा सकता। किसान के पास छोटे स्तर के उत्पादन के साधन होते हैं, वह उन्हीं से अपनी जीविका कमाता है। औद्योगिक मजदूर के पास उत्पादन के ये साधन भी नहीं होते। दोनों के जीविका कमाने के ढंग अलग–अलग हैं। एमिल बर्न्स की परिभाषा के अनुसार तो ये दोनों अलग–अलग वर्ग ठहरेंगे। इस आधार पर तो समाज में इतने वर्ग बनाए जा सकते हैं जिन्हें गिनना तक कठिन हो जाय। लेकिन इन दोनों विशाल समूहों के जीवन स्तर में इतनी समानता है कि वह इन्हें एक ही वर्ग में रखने को बाध्य करती है। यहाँ बॉटमोर का मत प्रासंगिक लगता है। बॉटमोर भी आर्थिक स्थिति को वर्ग विभाजन में बेहद महत्वपूर्ण मानते हैं, उनका कहना है कि वर्ग विभाजन का आधार "असंदिग्ध रूप से आर्थिक है लेकिन सामजिक वर्ग आर्थिक समूहों के अलावा भी बहुत कुछ हैं। वे सत्रहवीं सदी के बाद विकसित हुए औद्योगिक समाजों के विशिष्ट समूह हैं।"[10] बॉटमोर के इस कथन से पता चलता है कि वे सामाजिक वर्गों को यूरोप में औद्योगिक पूँजीवाद के विकास के साथ जोड़कर देख रहे हैं। आगे के अपने विश्लेषण में वे अनेक विद्वानों को उद्धृत करते हुए संपत्ति के स्वामित्व, आय, शिक्षा, उपभोग, पेशे और जीवनशैली आदि की चर्चा अप्रत्यक्ष रूप से करते हैं। सामाजिक वर्गों के निर्धारण में इन सभी तत्वों की उपस्थिति से सहमत हुआ जा सकता है। इनमें सामाजिक वर्ग विभाजन उत्पन्न करने वाले उत्पादन के साधन, उनसे होने वाले उत्पादन और उसके अधिग्रहण जैसे कारक भी आ जाते हैं। ये सारे कारक मिलकर समाज में उपरोक्त तीनों वर्गों की अपनी–अपनी विशिष्ट जगह बनाते हैं।

2. मध्यवर्ग : पहचान और परिभाषा

साधारण तौर पर कहा जाए तो मध्यवर्ग, उच्च वर्ग और निम्नवर्ग के बीच का वर्ग है। पर इससे तीनों में से किसी एक वर्ग के बारे में सुस्पष्ट तो क्या स्पष्ट रूप तक

का भी पता नहीं चलता। विद्वानों ने मध्यवर्ग के बाहरी रूप पर भी विचार किया है और उसकी आंतरिक प्रकृति पर भी। दोनों की ही उपयोगिता है और दोनों ही एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं। उसके बाहरी रूप से आंतरिक रूप का अनुमान किया जा सकता है और आंतरिक रूप के जरिए बाह्य रूप का भी पता लगाया जा सकता है। कौन सा व्यक्ति सुविधाओं का कितना उपभोग कर रहा है, इससे उसकी संपत्ति का मोटा–मोटा पता लगाया जा सकता है और व्यक्ति का उत्पादन के साधनों के साथ कैसा संबंध है, पेशा कौन सा है और उस पेशे का महत्व कितना है इससे उसकी आय की कमी या अधिकता का भी पता लगता है और ये सारी बातें मिलकर यह तय करती हैं कि उस व्यक्ति का जीवन स्तर कैसा होगा। मार्क्स ने निम्न पूँजीपति वर्ग की आर्थिक स्थिति के मध्यवर्ती रूप के आधार पर टिप्पणी करते हुए लिखा कि आज "निम्न पूँजीपतियों का एक नया वर्ग बन गया है जो सर्वहारा वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच झूला करता है और पूँजीवादी समाज के एक पूरक अंग के रूप में अपने को ताजा करता रहता है।"[11] मार्क्स का यह वक्तव्य केवल उन देशों के बारे में था जिनमें उस समय (1848ई.) तक आधुनिक पूँजीवादी सभ्यता का पूरा विकास हो चुका था। पूँजी की होड़ में यह वर्ग भी पड़ता है इसलिए मार्क्स इसे 'पूँजीवादी समाज के एक पूरक अंग' के रूप में देखते थे। आज 'मध्यवर्ग' शब्द में जो व्यापकता है उसके आधार पर यह निम्न पूँजीपति वर्ग मध्यवर्ग का एक हिस्सा मात्र ठहरता है।

लेकिन 'हिन्दी साहित्य कोश' में रामकृष्ण मणि त्रिपाठी मध्यवर्ग से संबंधित अपनी टिप्पणी में मध्यवर्ग की पेशागत बाहरी रूप के आधार पर पहचान करते हुए लिखते हैं कि "इस वर्ग में नौकरीपेशा शिक्षक, क्लर्क और अन्य साधारण लोग आते हैं। मध्यवर्ग विशेषतः बुद्धिप्रधान वर्ग माना गया है।"[12] वे इस वर्ग के दो भेद करते हैं– एक, उच्च मध्यवर्ग, जिसमें "प्रधानतः वही लोग आते हैं जिनका संपर्क समाज के उच्चवर्ग से बहुत निकट का होता है। इस वर्ग में प्रधानतया आवश्यकता से अधिक धन संपन्न और बुद्धिवादी वर्ग के लोग आते हैं।"[13] और दूसरा, निम्न मध्यवर्ग, जिसके अंतर्गत "दफ्तर के साधारण क्लर्क, बाबू आदि आते हैं, जिनकी जीविका साधारण माहवारी वेतन पर आधारित है।"[14] जाहिर है कि यह बहुत स्थूल विभाजन है जिसमें बहुत सारे पेशों को छोड़ दिया गया है, साथ ही 'आवश्यकता से अधिक' और 'उच्च वर्ग से बहुत निकट' जैसे अस्पष्ट शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। लेकिन त्रिपाठी जी के इस विभाजन का महत्व इस बात में है कि वह बताता है कि मध्यवर्ग अपनी संपूर्णता में एक सी आर्थिक स्थिति वाला वर्ग नहीं है। इस भिन्नता से समाज में उसकी हैसियत में भी भिन्नता आ जाती है। अपनी–अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार इनका पृथक जीवनस्तर होगा जिससे इनके सामाजिक रूतबे में भी कुछ फर्क देखने को मिलेगा।

टी. बी. बॉटमोर भी सफेदपोश कर्मचारियों और उदार पेशों में लगे हुए अधिकांश लोगों को मध्यवर्ग में शामिल करते हैं।[15] लेकिन मध्यवर्गीय पेशों से संबंधित व्यापक विवरण बी. बी. मिश्रा ने दिया है। उनके अनुसार मध्यवर्ग में निम्नलिखित पेशों के लोग आते हैं– "1–व्यापारिक प्रतिष्ठानों के व्यापारी, एजेंट तथा स्वामी या प्रोपराइटर, 2–मैनेजर, कार्यकारी अधिकारी और निरीक्षक, 3–संस्थाओं, व्यापार संगठनों, व्यापार संघों, शिक्षण संस्थाओं के उच्च वेतन प्राप्त अधिकारी, सरकार के विभिन्न विभागों में काम करने वाले नागरिक कर्मचारी, 5– वकील, शिक्षक, चिकित्सक, लेखक, कलाकार तथा पुरोहित, 6– पट्टेदार तथा लगान संग्रहकर्ता, 7–आधुनिक दुकानदार, होटलवाले, एकाउंटेंट, 8–भू स्वामियों, जमींदारों या जागीरों के वेतन प्राप्त कर्मचारी तथा पर्यवेक्षक, 9– उच्चतर शिक्षा में संलग्न विद्यार्थी, 10– माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षक तथा स्थानीय निकायों के अधिकारी और सामाजिक–राजनीतिक कार्यकर्ता।"[16] जाहिर है कि समय के साथ यह विवरण भी पुराना पड़ चुका है। बी. बी. मिश्रा द्वारा यह लिखे जाने के बाद भारत में पूँजीवादी सभ्यता का और विकास हुआ है, कुछ पुराने पेशे– जैसे पुरोहित, लगान संग्रहकर्ता, जागीरों से जुड़े पेशे आदि– या तो खत्म हो चुके हैं या खत्म होने की कगार पर हैं। इसके साथ ही विविध क्षेत्रों में नई सेवाओं का उदय हुआ है, जैसे– विज्ञापन, डिजाइनिंग, पैकिंग, सूचना, संचार और मनोरंजन आदि। इन क्षेत्रों में काम करने वाले व्यक्ति भी मध्यवर्ग में गिने जाएँगे। लेकिन यहाँ पर एक अत्यंत महत्वपूर्ण सवाल यह आ खड़ा होता है कि विद्वानों द्वारा बताए गए इन पेशों में लगे सभी व्यक्ति क्या मध्यवर्ग में ही गिने जाएँगे? इसमें थोड़ा संदेह है। यह सही है कि इनमें से ज्यादातर मध्यवर्गीय होंगे, पर कुछ अन्य चीजों पर भी गौर करना जरूरी है। मसलन– विद्यार्थी अपने परिवार की वर्गीय स्थिति से पहचाना जाएगा अथवा अपने अध्ययन से? उच्चतर शिक्षा में संलग्न विद्यार्थी उच्च वर्ग, मध्यवर्ग अथवा निम्नवर्ग से जुड़े परिवार का हो सकता है। ऐसा ही दूसरा उदाहरण –प्राथमिक विद्यालयों का शिक्षक भी क्या मध्यवर्गीय ही होता है। वर्ग के निर्धारण में व्यक्ति की समग्र स्थिति को देखना जरूरी है। हो सकता है कि नौकरी से प्राप्त आय ज्यादा न हो, लेकिन यह भी हो सकता है कि परिवार के पास आय के कुछ दूसरे स्रोत भी हों, जिनके पास इन दोनों तरह के स्रोत हों और जीवन स्तर सुविधापूर्ण हो, वह मध्यवर्गीय होगा। भारत के संदर्भ में यह जानी और मानी हुई बात है कि प्राइवेट कालेजों तक में पढ़ाने वाले ऐसे बहुत से शिक्षक मिलते हैं जिन्हें महँगाई के इस दौर में भी इतना कम वेतन मिलता है कि वे बुद्धिजीवी होने के बावजूद केवल निम्नवर्ग के ही सदस्य ठहरेंगे। इतिहासकार रविन्दर कुमार व्यक्तियों के किसी वर्ग में होने के लिए उसकी समग्र स्थिति के विश्लेषण को ध्यान में रखते हैं इसीलिए वे केवल पेशे से व्यक्ति की पहचान करने की बजाय प्रभाव और संसाधनों की कसौटी पर भी उसे कसते हैं।[17]

ये तो हुई मध्यवर्ग की पेशागत पहचान, पर सही रूप से समझने के लिए उसे परिभाषित करना भी जरूरी है। जब अवधारणा 'मध्यवर्ग' जैसी हो, जिसमें विविध आर्थिक हैसियत, पेशों और हितों वाले लोग हों तो उसे परिभाषित करना मुश्किल हो जाता है। यह कहना बहुत सरल है कि मध्यवर्ग, उच्च वर्ग और निम्नवर्ग के बीच का वर्ग है। यह मध्यवर्ग के संबंध में दिया गया बहुत भोला सा जवाब है। ऐसा ही एक और भोला सा जवाब देने की कोशिश श्याम सुन्दर घोष करते हैं, जिससे मध्यवर्ग का कोई स्पष्ट स्वरूप उभरकर सामने नहीं आता है। वे लिखते हैं कि मध्यवर्ग "समाज का वह बिचला हिस्सा है जो समाज को अनुप्रस्थ ढंग से विभाजित करने पर बनता है और जिसमें कमोवेश एक ही रूतबे या ओहदे के लोग सम्मिलित होते हैं, जिनकी विशेष आर्थिक और सामाजिक स्थिति और प्रवृत्ति होती है जो बहुधा उनकी आय, व्यवसाय, शिक्षा और वंश परम्परा से निर्धारित होती है।"[18] जाहिर सी बात है कि इस परिभाषा में 'बिचला हिस्सा' के अलावा मध्यवर्ग के बारे में और कुछ भी नहीं बताया गया है। इस परिभाषा में बिचला की जगह निचला या ऊपरी या कुछ भी और रख दिया जाए तो वह किसी दूसरे वर्ग विभाजन के लिए भी ऐसा ही 'शाश्वत सत्य' बन जाएगा।

इस संबंध में समाजशास्त्री श्यामाचरण दुबे का मत तीनों सामाजिक वर्गों के संबंध में काफी कुछ कहा जाता है। पहले वे परस्पर विपरीत ध्रुवों पर स्थित उच्चवर्ग और निम्नवर्ग का स्वरूप निर्धारण उनकी आंतरिक प्रकृति के माध्यम से करते हैं। वे लिखते हैं कि समाज के उच्च वर्गीय लोग "वैभवपूर्ण जीवन जीते हैं। उन्हें धन से खरीदा जा सकने वाला हर सुख प्राप्त होता है। उनके पास इतने संसाधन होते हैं कि वे यह नहीं जानते कि इनका उपयोग कैसे किया जाए, जबकि अनेक लोग बेरोजगारी, आवास, स्वास्थ्य और शिक्षा संबंधी समस्याओं का सामना करते हुए अति निर्धनता और अपमान का जीवन जीते हैं।"[19] इसके बाद वे मध्यवर्ग का स्वरूप उद्घाटित करते हुए कहते हैं "इन दो परस्पर विपरीत ध्रुवों के बीच एक आकारहीन मध्यवर्ग है। इस वर्ग का उच्चार्ध एक कल्पना लोक में रहता है। वह धनिकों की जीवनशैली का अनुकरण करने का प्रयास करता है, किंतु पर्याप्त साधनों के अभाव में स्वयं को विवश पाता है।"[20] यद्यपि यहाँ उच्च मध्यवर्ग के स्वरूप को ही उद्घाटित किया गया है लेकिन जो महत्वपूर्ण बात उभरकर सामने आती है वह है मध्यवर्ग को उच्च वर्ग तथा निम्नवर्ग के समानान्तर रखकर देखने की कोशिश। इस प्रक्रिया में जिस बात का पता चलता है वह यह कि यह वर्ग ऐसे लोगों से मिलकर बना है जो न तो सुविधाओं की भव्यता में जीता है और न संघर्षपूर्ण जीवन स्थितियों में ही। मध्यवर्ग के बारे में बहुत कुछ न बताते हुए भी उसका वास्तविक स्वरूप उभरकर सामने आ जाता है।

समाज के तीनों वर्गों को एक–दूसरे से पृथक करने वाली चीज है–उनके जीवन स्तर का वैभिन्य। असल में मध्यवर्ग में वे लोग आते हैं जिनके पास न तो उच्चवर्ग की

तरह प्रचुर वित्तीय संसाधन होते हैं और न ही निम्नवर्ग की तरह अत्यल्प। इस वर्ग के लोगों के पास किसी भी तरह के स्रोतों से इतनी आय तो होती ही है कि जिससे वे न केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सहजता से कर लेते हैं बल्कि अपनी अभिलाषाओं को पूरा करने के लिए भी उनके पास कुछ धन उपलब्ध होता है। अभिलाषाओं की यह पूर्ति इस बात पर निर्भर करती है कि व्यक्ति की आय कितनी है। जिसके पास जितनी कम या अधिक आय है, उसके उपभोग का स्तर भी वैसा ही होगा। ऐसे मामलों में आय का थोड़ा बहुत अंतर कोई मायने नहीं रखता है। इस तरह की बातों से जो अमूर्तन पैदा होता है उसे समझने के लिए कुछ ठोस उदाहरणों के जरिए बात करना जरूरी है। इन तीनों वर्गों में आय की संख्यात्मक मात्रा निर्धारित करने से समस्या के अति सरलीकरण का खतरा बराबर बना रहता है। व्यक्ति की आय के अलावा जीवन स्थितियों जो कि सामाजिक या पारिवारिक या किसी और तरह की हो सकती है को भी देखना जरूरी है।

मध्यवर्ग को और ज्यादा स्पष्ट रूप से समझने के लिए जरूरी है कि उसे निम्नवर्ग के समानान्तर रखकर देखा जाए, कारण यह कि यह वर्ग उच्चवर्ग की तरह विश्रामभोगी नहीं है बल्कि अपनी जीविका के लिए कुछ न कुछ काम इसे करना ही पड़ता है। इस तरह इसमें और निम्नवर्ग में कुछ निकटता बनती है। लेकिन निम्नवर्ग में प्रधानतया किसान और मजदूर वर्ग को रखा जाता है। दोनों के जीविका कमाने के ढंग अलग–अलग हैं, लेकिन ये दोनों ही अपने जीवनयापन के लिए कठोर शारीरिक श्रम की प्रकिया से गुजरते हैं। मजदूर उद्योगों तथा अन्य स्थानों पर इस तरह का श्रम करते हैं और किसान अपने ही खेतों पर ही सर्दी, गर्मी और बरसात में हाड़तोड़ मेहनत करते हैं। मध्यवर्ग में गिने जाने वाले तमाम नौकरीपेशा लोग, दुकानदार आदि निम्नवर्ग द्वारा किए जाने वाले इस तरह के शारीरिक श्रम से मुक्त हैं। वे हमेशा इस बात के लिए चितिंत होते हैं कि कहीं उनकी स्थिति इस तरह की न हो जाय कि उन्हें या उनकी अगली पीढ़ी को श्रम के इस रूप से जूझना पड़े। मध्यवर्ग के प्रसंग में भगवान प्रसार बिल्कुल ठीक कहते हैं कि "मध्यवर्ग गैर शारीरिक और गैर कृषिक धंधों में लगा हुआ है।"[21] इस प्रकार मध्यवर्ग अच्छे खाते–पीते लोगों का ऐसा वर्ग है जो सुविधापूर्ण जीवन जीने की कोशिश लगातार करता है। आज के दौर में जिस उपभोक्तावादी संस्कृति की चर्चा जगह–जगह देखने और सुनने को मिलती है असल में उसका संबंध प्रशिक्षित श्रम और मानसिक श्रम से जुड़े इस मध्यवर्ग से ही है, जिसकी संख्या में निरंतर बढ़ोत्तरी भी हो रही है।[22] लेकिन यहाँ भी थोड़े विवाद की गुंजाइश बची हुई है। मध्यवर्ग संबंधी चर्चाओं में (निरंतर घटते और सर्वहारा वर्ग में विलीन होते हुए) ग्रामीण मध्य की चर्चा यदा–कदा ही की जाती है। गाँवों में अधिकाँश लोग कृषि पर ही निर्भर हैं और पूँजीवादी प्रभावों के बावजूद अभी भी किसानों का एक हिस्सा सापेक्षिक तौर पर उससे

बाहर है। वहाँ मझोले किसान भी सहजता से देखे जा सकते हैं जो अपनी संपदा के आधार पर मध्यवर्गीय होने के बावजूद शारीरिक श्रम करते हैं। कृषि संबंधित श्रम के कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ मध्यवर्गीय किसान और निम्नवर्गीय किसान में कोई फर्क नहीं है, जैसे– अपने खेत–खलिहान पर काम करना, फसल में पानी देते वक्त काम करना इत्यादि। लेकिन उनमें भी एक अंतर मौजूद है। निम्नवर्गीय (गुजारे की खेती करने वाला) किसान अपने खाली समय में दूसरे किसानों के यहाँ काम करने जा सकता है, लेकिन मध्यवर्गीय किसान ऐसा नहीं करेगा। वह दूसरों के यहाँ काम करने नहीं जा सकता है क्योंकि यह उसकी प्रतिष्ठा का प्रश्न है, किसानों के जीवन में सामाजिक 'मरजाद' भी एक महत्वपूर्ण पहलू है। इसलिए ग्रामीण मध्यवर्ग की जाँच–परख करते समय इस बात का ध्यान रखा जाना बेहद जरूरी है कि श्रम के किन रूपों के प्रति लोगों का नजरिया कैसा है– सकारात्मक अथवा नकारात्मक। लेकिन इन सारी विविधताओं के बावजूद इतना तो तय है कि जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो और जैसा संघर्ष निम्नवर्ग को करना पड़ता है वह संघर्ष मध्यवर्ग को बिल्कुल नहीं करना पड़ता।

बीमारी के एक व्यावहारिक उदाहरण के माध्यम से उच्च, मध्य और निम्नवर्ग के बीच का अंतर साफ तौर पर समझा जा सकता है। अगर मध्यवर्ग के किसी सदस्य को ऐसी बीमारी हो जाए जिसके इलाज में वर्तमान समय में पचास–साठ हजार रुपए का खर्च आए तो मध्यवर्ग यह इलाज सहजता से करवा सकेगा लेकिन निम्नवर्ग के लिए यह इलाज करा सकना बेहद कठिन होगा। उच्च–मध्यवर्ग इतना समर्थ होता है कि उसके लिए यह कोई विशेष खर्च नहीं है, निम्न मध्यवर्ग के लिए यह स्थिति कुछ संकटपूर्ण है लेकिन फिर भी वह यह इलाज करवा लेगा। उसके पास अगर इतना पैसा उपलब्ध नहीं है तो किसी से पैसे उधार लेकर अपना काम चला लेगा और कुछ ही महीनें में वह यह पैसा चुका भी देगा, क्योंकि इतना तो यह वर्ग भी समर्थ होता है। निम्नवर्ग यह खर्चा किसी भी हालत में नहीं उठा पाएगा और अगर अपने परिवार के सदस्य को बचाने के लिए वह यह खर्चा उठा भी ले (यद्यपि उसे इतना पैसा कोई देगा नहीं क्योंकि उसकी आर्थिक हैसियत इतनी नहीं होती कि ऋणदाता को पैसे वापस मिलने की उम्मीद हो), तो यह वर्ग निम्न मध्यवर्ग की तरह उस कर्ज को कुछ ही महीनों में नहीं चुका पाएगा बल्कि उस कर्ज को चुकाने में पूरी एक पीढ़ी का जीवन गुजर जाएगा। अपने एक लेख में पवन वर्मा गरीबी रेखा के ठीक ऊपर रहने वाले तीस करोड़ भारतीयों का जिक्र करते हैं जिनके परिवार में एक (कमाने वाले की) मौत या दुर्घटना उन्हें तत्काल गरीबी रेखा से नीचे ढकेल दे सकती है।[23] इसलिए मध्यवर्ग के संबंध में अध्ययन करते समय यह ध्यान रखना जरूरी है कि केवल खर्च के आधार पर ही वर्ग निर्धारण नहीं किया जा सकता बल्कि यह देखना भी जरूरी है कि किन

जरूरतों के लिए यह खर्च किया जा रहा है और किस तरह किया जा रहा है। ये परिस्थितियाँ ही वर्गों की ठीक–ठीक पहचान कराती हैं।

भारतीय समाज में वर्ग निर्धारण के संदर्भ में आने वाली कुछ अन्य समस्याओं पर भी विचार कर लेना जरूरी होगा। वर्ग निर्धारण में हम वर्तमान दौर में पश्चिम के अति विकसित पूँजीवादी देशों के प्रतिमानों को यहाँ के समाज पर लागू नहीं कर सकते हैं। भारत में पूँजीवाद का जो ठीक–ठाक असर देखने को मिलता है वह केवल महानगरों तक ही सीमित है, अन्य जगहों पर परम्परा और आधुनिकता का एक विचित्र मिश्रम देखने को मिलता है। विकसित पश्चिमी देशों में निर्धारण के प्रतिमान उपभोग की वस्तुओं के आधार पर निर्मित किए गए हैं। भगवान प्रसाद द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले अपनाए गए इसी तरह के एक दिलचस्प प्रतिमान का जिक्र करते हैं, जिसके अनुसार " वे सभी जो नैपकिन (भोजन के समय गले में लटकाया जाने वाला तौलिया) का इस्तेमाल करते हैं, मध्यवर्ग के अंग हैं क्योंकि श्रमिक वर्ग किसी नैपकिन का इस्तेमाल नहीं करता, जबकि उच्च वर्ग हर बार भोजन के समय स्वच्छ (नया) तौलिया इस्तेमाल करता है।"[24] भारत के संदर्भ में इस तरह के प्रतिमानों की निरर्थकता स्वयंसिद्ध है। भारत के प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ केवल शहर ही नहीं है बल्कि गाँवों की बहुसंख्या भी है। शहर और गाँव के जीवन स्तर और जीवन शैली में जबरदस्त भिन्नता हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि यहाँ दस हजार रुपए कमाने वाला व्यक्ति भी मध्यवर्गीय है और चालीस–पैंतालिस हजार रुपए कमाने वाला व्यक्ति भी मध्यवर्गीय ही है। इसे कहते हैं भारी आर्थिक असमानता। इसी क्रम में हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भारत में अभी तक जाति व्यवस्था तथा छुआछूत जैसे घृणित, प्रतिक्रियावादी और दकियानूसी सामंती तत्व जड़ जमाए हुए हैं। हाल के वर्षों में लिखे गए अपने एक लेख में प्रसिद्ध समाजशास्त्री आंद्रे बेते ने लिखा है कि "भारतीय मध्यवर्ग धर्म, जाति और वंश पर आधारित अपेक्षाकृत एक नई सामाजिक संरचना का हिस्सा है।"[25] इसीलिए उसकी 'मॉर्फोलॉजी' (आकारिकी) को समझना कठिन है। शहरों में चाहे इन तत्वों का प्रभाव उतना न हो लेकिन गाँवों में धीमे परिवर्तन के कारण वहाँ अभी भी इनका असर बहुत ज्यादा है। भारत में पाँच लाख से अधिक गाँव हैं और आर्थिक आधार पर वहाँ भी वर्ग विभाजन दिखने लगे हैं, लेकिन जिस सामाजिक रुतबे को हम वर्ग विभाजन में महत्वपूर्ण मानते हैं, असल में ग्रामीण भारत में वह सामाजिक रुतबा भी जाति पर टिका होता है। जाति और छुआछूत को भूला नहीं जा सकता क्योंकि आज भी बहुत जगहों पर ये कुप्रवृत्तियाँ उसी रूप में विद्यमान हैं जिस रूप में मध्यकाल में रही थीं। 21वीं सदी के पहले दशक तक स्थिति यह है कि कहीं जाति वर्ग के सामने असहाय नजर आती है तो कहीं वर्ग जाति के सामने। इस बात को समझने के लिए उन चुनावों का उदाहरण पर्याप्त होगा जिनमें एक ओर तो कमजोर आर्थिक स्थिति

वाला व्यक्ति भाग ही नहीं ले सकता, वहीं दूसरी ओर किसे कितने वोट मिलेंगे, कई बार इसका सबसे गहरा संबंध उम्मीदवार की जाति से ही होता है।

3. यूरोपीय मध्यवर्ग : उदय, स्वरूप और भूमिका

'मध्यवर्ग' मूलतः यूरोपीय अवधारणा है, कारण यह कि स्वयं मध्यवर्ग का जन्म यूरोप में ही पहले हुआ। भारतीय मध्यवर्ग की चर्चा करते समय अक्सर यूरोपीय मध्यवर्ग से उसकी भिन्नता और यूरोपीय मध्यवर्ग की प्रगतिशील भूमिका की चर्चा की जाती है।[26] यूँ तो संसार की हर चीज दूसरी चीजों से भिन्न होती है इसलिए इस प्रसंग में बुनियादी महत्व का सवाल यही है कि यह भिन्नता किस चीज की है, किस तरह की है? चूँकि यूरोपीय मध्यवर्ग का उदय भिन्न परिस्थितियों में भिन्न कारणों से हुआ था इसीलिए उसका स्वरूप भी भिन्न था और भूमिका भी। यहाँ हम अपने को इन्हीं तीन बिन्दुओं के विवेचन तक सीमित रखेंगे।

यूरोपीय मध्यवर्ग का जन्म भारत की तरह बाहर से किसी थोपे गए दबाव के परिणामस्वरूप न होकर, यूरोप के अपने विकास का परिणाम था। यह यूरोप में उत्पादन पद्धति और उत्पादन संबंधों में आने वाले बदलावों के फलस्वरूप हुए सामाजिक परिवर्तनों की उपज था। सोलहवीं सदी के आसपास यूरोप की जनसंख्या तेजी से बढ़ी, फलतः भूमि पर अतिरिक्त दबाव बढ़ा, खाद्य पदार्थों और भूमि के दाम तेजी से बढ़े। इससे एक ओर जहाँ बड़े भूस्वामी लाभान्वित हुए, वहीं दूसरी ओर अतिरिक्त जनसंख्या काम– 'किसी भी तरह का काम'– पाने की तलाश में तेजी से शहरी केंद्रों की ओर बढ़ी।[27] इससे एक तरफ तो उजरती मजदूर का जन्म हुआ वहीं दूसरी ओर शहरों में मैन्यूफैक्चरियों (हस्त उद्योगशाला) का जन्म हुआ, जिसमें दसों से लेकर सैकड़ों मजदूर तक काम किया करते थे।[28] इसके चलते पुराने भूस्वामी वर्ग तथा कच्चे माल का उत्पादन करने वाले श्रमिकों के बीच खाई बढ़ी तथा उनके बीच एक नए स्वतंत्र उत्पादक वर्ग– बुर्जुवा वर्ग– का जन्म हुआ, यह उस दौर के यूरोप का मध्यवर्ग था।[29]

मैन्यूफैक्चरियों में नवीन श्रम विभाजन के कारण उत्पादन में तेजी आई। जहाँ पहले हर श्रमिक पूरी की पूरी वस्तु तैयार करता था, वहीं अब अलग–अलग कार्यों में दक्ष श्रमिकों ने निर्माण के अलग–अलग कार्यों को अपना लिया।[30] उत्पादन और व्यापार ने द्वंद्वात्मक ढंग से एक–दूसरे के विकास को लगातार प्रोत्साहित किया। जहाँ पुराने सामंती वर्गों की रूचि युद्धों और बलपूर्वक कर वसूली के जरिए लूटने में थी, वहीं नवीन बुर्जुवा वर्ग की रुचि अधिक उत्पादन के जरिए लाभ कमाने में थी। इसीलिए उसका हित, विज्ञान और तकनीकी विकास से भी जुड़ा हुआ था।[31]

विकास का अगला चरण औद्योगिक क्रांति से शुरू हुआ, जिसने व्यापारिक पूँजीवाद को औद्योगिक पूँजीवाद में परिवर्तित कर दिया। परिवर्तन के इस क्रम में सारी व्यवस्था का पुनर्गठन हुआ। नए उदीयमान बुर्जुवा वर्ग के हित प्राचीन अभिजात/सामंत वर्ग के हितों से टकरा रहे थे। उद्योग और व्यापार के हितों में धर्म और राज्य की भूमिका बाधक थी, इसीलिए बुर्जुवा वर्ग के हित साधक विज्ञान और सामंती राजतंत्र के पक्षधर चर्च में भी व्यापक संघर्ष चला।[32] इन नई स्थितियों ने नए विचारों और उससे जुड़े एक नए बुद्धिजीवी वर्ग को जन्म दिया। सामंती व्यवस्था के खिलाफ मानवतावादी विचारों का एक पूरा दौर यूरोप में चला, जिसे पुनर्जागरण कहते हैं। ये मध्यवर्ग के चिन्तक और बुद्धिजीवी थे जिन्होंने आने वाले समाजों के भविष्य की रूप–रेखा तैयार की।[33]

चूँकि व्यवस्था बुर्जुवा वर्ग के साथ–साथ निम्नवर्ग (भू दास और मजदूर) के लोगों के लिए भी असह्य थी इसलिए उनके खिलाफ संघर्ष में बुर्जुवा वर्ग ने इनका नेतृत्व करते हुए महत्वपूर्ण क्रांतियाँ संपन्न की। इस पूरे संघर्ष में बुर्जुवा वर्ग सर्वाधिक महत्वपूर्ण वर्ग के रूप में उभरा, व्यवस्था परिवर्तन के साथ–साथ उसने तमाम राजनैतिक अधिकार भी हासिल किए– यह सब कुछ लंबे संघर्ष का परिणाम था, जिनमें से कई मजदूर वर्ग के सहयोग से ही संपन्न हुए थे।[34] पूर्ण पूँजीवादी व्यवस्था स्थापित हो जाने के बाद इस बुर्जुवा वर्ग ने अपनी 'प्रगतिशील' ऐतिहासिक भूमिका भी पूर्ण कर ली। अब महत्वपूर्ण वर्ग संघर्ष सर्वहारा और पूँजीपति वर्ग के बीच था।

सभी पश्चिमी देशों में मध्यवर्ग का विकास एक ही ढंग से और एक साथ नहीं हुआ। उन देशों में जहाँ शहरी क्षेत्रों में एक सशक्त बुर्जुवा वर्ग 'संकेंद्रित' था– जैसे कि इंगलैंड और फ्राँस में– वहाँ उसने यह विजय बहुत तेजी से हासिल की, लेकिन जहाँ वह काफी बाद में एकजुट हो सका– जैसे कि जर्मनी में– वहाँ उसे सफलताएँ मिलने में भी वक्त लगा।[35]

औद्योगिक क्राँति के फलस्वरूप मशीनों के आगमन और बढ़ते हुए उत्पादन का महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि श्रम विभाजन और विस्तृत तथा जटिल बना और विनिमय के तंत्र में भी ऐसा ही बुनियादी परिवर्तन हुआ। अब जहाँ मशीनों के साथ काम करने के लिए प्रशिक्षित श्रम की आवश्यकता हुई वहीं विनिमय के क्षेत्र में ग्राहक और उत्पादक के बीच का पहले वाला सरल संबंध (प्रत्यक्ष विनिमय) भी खत्म हो गया।[36] अब जहाँ उत्पादन और विनिमय के लिए प्रशिक्षित लोगों की आवश्यकता थी, वहीं इस पूरे प्रबंध को संभालने वाले एक प्रबंधक वर्ग का उदय भी अपरिहार्य हो गया। इस तरह हम देखते हैं कि इस प्रक्रिया ने शारीरिक श्रम करने वाले साधारण मजदूर से अधिक 'योग्यता' रखने वाले ढेरों पेशों को जन्म दिया। इनमें से बहुत से पेशे 'गैर शारीरिक श्रम' अथवा 'मानसिक श्रम' से जुड़े हुए थे, जिन्हें आगे चलकर 'व्हाइट कॉलर'

(सफेदपोश) धंधे कहा गया। जो आज मध्यवर्ग का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। इन सबसे एक नई तरह की शिक्षा और शिक्षा प्रणाली का जन्म हुआ, जो रोजगार दिलाने वाली शिक्षा थी। राजनैतिक तथा सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न वर्गों की व्यापक तथा सक्रिय भागीदारी की संभावना ने जनतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना के माध्यम से बौद्धिक प्रतिनिधियों (नेताओं) की आवश्यकता पैदा की। इस प्रक्रिया ने ही विभिन्न वर्गों के हितों का औचित्य निरूपण करने वाले एक बौद्धिक समुदाय का भी गठन किया, जो विचारों का उत्पादन करते हैं।

अभिजात वर्ग के पतन के साथ बुर्जुवा वर्ग– आरंभिक मध्यवर्ग– समाज का उच्चवर्ग बन गया और मध्यवर्ग की जगह ले ली। छोटे स्तर के स्वतंत्र उत्पादकों ने जिन्हें 'पेटी बुर्जुवा' कहा जाता है।[37] हालाँकि आज भी यह मध्यवर्ग का एक महत्वपूर्ण अंग है, फिर भी यह एक सच्चाई है कि बड़ी पूँजी की होड़ में छोटी पूँजी धीरे–धीरे पिछड़ती जा रही है। नतीजतन मध्यवर्ग में छोटे स्तर के स्वतंत्र उत्पादकों की भागीदारी घटती जा रही है और इस वर्ग से जुड़े हुए सदस्य धीरे–धीरे रोजगार के लिए बड़ी पूँजी पर निर्भर होते जा रहे हैं– जैसा कि मार्क्स का पूर्वानुमान था।[38] महत्वपूर्ण बात यह है कि निम्न पूँजीपति वर्ग की संख्या जितनी तेजी से घट रही है दफ्तरी काम–काज करने वाले मध्यवर्गीय लोगों की संख्या उसी रफ्तार से बढ़ रही है।

निम्न पूँजीपति वर्गों के रुख के ढुलमुलेपन की ओर मार्क्स ने बहुत पहले ही इशारा किया था। चूँकि बड़ी पूँजी के हितों से इसके हितों का टकराव होता है इसलिए उसके साथ संघर्ष में यह सर्वहारा के साथ होता है, लेकिन चूँकि स्वयं सर्वहारा के हित निजी स्वामित्व और इसके चरम रूप पूँजीवाद से टकराते हैं इसलिए उनके (सर्वहारा के) साथ संघर्ष में यह पूँजीपति वर्ग का साथ देने के लिए बाध्य होता है। मध्यवर्ग के बाकी घटकों की भूमिका अलग–अलग है। मध्यवर्ग का एक बड़ा हिस्सा या तो राज्य की मशीनरी का अंग है अथवा पूँजीवादी आर्थिक तंत्र की सेवा द्वारा अपनी जीविका चला रहा है– इसलिए ये अपने क्रियाकलाप के सर्वाधिक महत्वपूर्ण हिस्से में तो उसे ही बनाए रखने और आगे बढ़ाने का काम कर रहे हैं। एक और भी क्षेत्र है– सेवा क्षेत्र, इससे जुड़े लोगों की भूमिका कुछ–कुछ अस्पष्ट सी है, हालाँकि ये लोगों को बहुत जरूरी और कई बार तो जीवनोपयोगी (जैसे कि चिकित्सा के क्षेत्र में) सुविधाएँ मुहैया कराते हैं, लेकिन विकसित देशों में स्वयं इन सेवा क्षेत्रों का भी निजीकरण हो गया है। नतीजतन वह स्वयं मुनाफे का एक ऐसा क्षेत्र है, जो प्रायः सुविधाभोगी वर्गों की ही सेवा करता है। मध्यवर्ग की इस यथास्थितिवादी, उपभोक्तावादी भीड़ के बीच कुछ अपवाद ऐसे भी हैं जो उम्मीद की किरण जगाते हैं– इनमें परिवर्तनकामी राजनीति से जुड़े कुछ नेता और बुद्धिजीवी मुख्य हैं।

4. भारतीय मध्यवर्ग का उदय

भारत में आधुनिक मध्य वित्त वर्ग के लिए 'मध्यवर्ग', 'नया मध्यवर्ग', 'आधुनिक मध्यवर्ग' जैसी संज्ञाओं का प्रयोग किया जाता है। इनसे मध्यवर्ग के बारे में कुछ महत्वपूर्ण जानकारियाँ मिलती हैं। इन संज्ञाओं से पता चलता है कि जिस समय आधुनिक बुद्धिवादी वर्ग का जन्म हुआ और जिसे आधुनिक या नया मध्यवर्ग नाम दिया गया, उससे पहले भी कोई मध्यवर्ग था, जिसे विद्वानों ने 'पुराना मध्यवर्ग' नाम दिया है। जहाँ 'मध्यवर्ग' शब्द का इस्तेमाल किया जाता है वहाँ इससे तात्पर्य 'नए' मध्यवर्ग से ही लिया जाता है। इस मध्यवर्ग का उदय भारत में औपनिवेशिक राजतंत्र स्थापित होने के बाद हुआ। प्रसिद्ध समाजशास्त्री पी. सी. जोशी के अनुसार इस मध्यवर्ग का जन्म औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था के कारण हुआ।[39] इस मध्यवर्ग में नौकरीपेशा लोग थे, जिनमें डॉक्टर, वकील, अध्यापक, तकनीशियन और पत्रकार आदि थे। यह वर्ग आधुनिक ज्ञान, विज्ञान से परिचित था। अंग्रेजी शिक्षा के कारण यह वर्ग न केवल 'विश्व साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले एक श्रेष्ठ साहित्य' से परिचित हुआ अपितु यूरोप के आधुनिक विज्ञान से भी परिचित हुआ। आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान, आधुनिक चिकित्साशास्त्र, आधुनिक विधिशास्त्र, अर्थशास्त्र, पाश्चात्य दर्शन आदि का ज्ञान अंग्रेजी शिक्षा के कारण ही संभव हुआ। अंग्रेजी के इसी ज्ञान के कारण यह यूरोप की नई संस्कृति से परिचित हो सका और कुछ अंशों में उसे अपनाया भी। यहाँ अंग्रेजी शिक्षा को लेकर एक सवाल यह उठता है कि ऐसी कौन सी परिस्थितियाँ थी जिसके कारण अंग्रेजों ने भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा प्रदान करने की कोशिश की? अंग्रेजों के वे कौन से हित थे, जिनकी पूर्ति वे अंग्रेजी शिक्षा प्रदान कर वे प्राप्त करना चाहते थे? स्वयं भारतीयों ने यह शिक्षा किन कारणों से ग्रहण की? इन सवालों के जवाब तत्कालीन ऐतिहासिक–सामाजिक परिस्थितियों में ही खोजे जा सकते हैं। लेकिन नई शिक्षा और उसके फलस्वरूप उदित 'नए' मध्यवर्ग की चर्चा से पहले 'पुराने' मध्यवर्ग और इस 'नए' से उसके संबंध को समझ लेना जरूरी है।

अंग्रेजों द्वारा नई भूमि व्यवस्थाओं और जमींदारों के एक नए वर्ग का निर्माण किए जाने से पहले आर्थिक दृष्टि से समर्थ एक और वर्ग था, जो प्राक औपनिवेशिक भारत में मध्यकालीन दौर के अंतिम समय में निर्मित हुआ था। यह वर्ग उन भारतीयों का था जो यूरोपीय व्यापारियों के साथ जुड़ा हुआ था और जो इन व्यापारियों और भारतीय उत्पादकों के बीच सेतु का काम कर रहा था। यह वर्ग तब पैदा हुआ जब यूरोपीय व्यापारी बड़ी संख्या में व्यापार के उद्देश्य से भारत आने लगे। वे इस देश से लगभग अपरिचित थे, इसलिए उन्हें ऐसे लोगों की आवश्यकता महसूस हुई जो यूरोपीय व्यापारियों को यहाँ के उत्पादकों का माल दिला सके। ऐसे वर्ग का उदय सोलहवीं

सदी में हुआ। शुरुआत में दलाल और उप दलालों के रूप में यह वर्ग उभरा और 18वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक इस वर्ग की संख्या में काफी बढ़ोत्तरी हुई।[40] इसी बीच ठेकेदार, सर्राफ, यूरोपीय ईस्ट इंडिया से जुड़े एजेंट, सहायक, नौकर, दुभाषिये आदि भी अस्तित्व में आए। समय के साथ ये भी छोटे स्तर के निजी व्यापार में लग गए। जिसे आधुनिक भारतीय मध्यवर्ग कहा जाता है, जो कि औपनिवेशिक भारत में पैदा हुआ उसका आधार यही लोग थे। यद्यपि इन लोगों की संख्या बहुत कम थी और प्राक् औपनिवेशिक भारतीय समाज में इन लोगों की उपस्थिति से कोई ऐसा परिवर्तन भी नहीं हुआ जिसे रेखांकित किया जा सके, फिर भी यह एक नया वर्ग था, जिसने समय की नजाकत को भाँप कर कई जगहों पर जाति–पाति आधारित पेशों के परम्परागत बंधनों को ठुकराते हुए अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ कर ली।[41] लेकिन जैसे ही भारत में औपनिवेशिक युग की शुरूआत हुई और आँतरिक व्यापार के तमाम क्षेत्रों पर ईस्ट इंडिया कंपनी ने अधिकार करना शुरू किया वैसे ही इस वर्ग के आगे बढ़ने के रास्ते बंद हो गए। सौदेबाजी करने के लिए इनकी जगह कंपनी ने वेतनभोगी कर्मचारी रख लिए। इतिहासकार ताराचंद प्राक् औपनिवेशिक भारत के इन असंगठित वर्ग के लोगों को "मध्ययुगीन भारत के मध्यम वर्ग" का नाम देते हैं।[42] यह इतिहास ही इस वर्ग की सामाजिक भूमि और भूमिका दोनों है।

सवाल यह है कि जिसे 'मध्ययुगीन मध्यवर्ग' कहा जाता है, वह 'वर्ग' के विशिष्ट अर्थ में कितना खरा उतरता है। 'वर्ग' अपने विशिष्ट अर्थ में हित, संगठन और चेतना के तीन अनिवार्य तत्वों से मिलकर बनता है। औपनिवेशिक भारत में जो सामाजिक वर्ग पैदा हुए वे इस अर्थ में वर्ग थे कि न केवल वे राष्ट्रीय अर्थतंत्र का अंग थे, अपितु अपने वर्ग की 'सम्मिलित स्वार्थ चेतना' से भी संचालित थे और इसीलिए उनके अपने संगठन भी थे। इसके विपरीत प्राक् औपनिवेशिक भारत के इस समुदाय में ये विशेषताएँ नहीं थीं, वह केवल अपनी मध्य वित्तीय स्थिति को रेखांकित कर पाता है। इस समूह का न तो अपना कोई संगठन था और न ही किसी प्रकार की वर्गीय चेतना थी, इस समूह के दलालों और सौदागरों में आपसी प्रतिद्वंदिता बहुत अधिक थी, लेकिन दूसरे वर्गों और स्वयं समाज के तत्कालीन रूप से इसका कोई विशेष संघर्ष नहीं था। समाज में मूलभूत परिवर्तनों की शुरूआत तभी हुई, जब औपनिवेशिक शासन स्थापित हो गया। इसलिए इसे 'पुराना मध्यवर्ग' कहने की बजाय पुराना मध्य वित्त वर्ग कहना ही अधिक उचित है।

असल में भारतीयों के साथ यूरोपीय व्यापारियों का पुराना संबंध था। वे यहाँ से वस्तुएँ ले जाते और यूरोपीय बाजार में ऊँचे मुनाफे पर बेचते थे। यहाँ की वस्तुओं की माँग यूरोप में इतनी जबरदस्त थी कि शुरुआत में उन्होंने भारतीय वस्तुओं (जिनमें सूती वस्त्र और मसाले प्रमुख थे) के लिए अपने यहाँ जमा सोना चाँदी तक दे देने में कोई हिचक महसूस नहीं की। समय के साथ वे जान गए कि इस देश से बहुत कुछ प्राप्त

किया जा सकता है। मार्क्स के शब्दो में वे भारत में एक उत्पादक देश की अपार संभावनाएँ देखते थे।[43] इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर उन्होंने 18वीं सदी के मध्य में सूबा बंगाल (जिसमें उस समय आज के बंगाल, बिहार, उड़ीसा और बांग्लादेश शामिल थे) पर राजनैतिक आधिपत्य भी जमा लिया। 18वीं सदी के उत्तरार्ध तक इंगलैंड में औद्योगिक क्राँति संपन्न हो चुकी थी, फलस्वरूप बहुत अधिक मात्रा में उत्पादन होने लगा। वे इसी प्रक्रिया को यहाँ भी अंजाम देना चाहते थे। सर्वप्रथम उन्होंने बंगाल में अपने उद्योग लगाए, जिनमें मशीनों द्वारा उत्पादन होता था। कच्चा माल भी यहीं का, काम करने वाले व्यक्ति यहीं के और खरीददार भी यहीं के, लेकिन मुनाफा इंगलैंड को। इन उद्योगों को चलाने के लिए बिजली की भी व्यवस्था हुई। संचार प्रणाली एवं परिवहन की भी।[44] इसके अतिरिक्त छापेखाने द्वारा पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन भी आरंभ हुआ। इसका इस्तेमाल अंग्रेजों ने शुरूआत में केवल अपने हितों के लिए किया। इन सारी चीजों ने मिलकर पुरानी व्यवस्था में बदलाव पैदा किया। यह परिवर्तन हालाँकि बहुत धीरे–धीरे हुआ, लेकिन फिर भी इससे एक सामाजिक गतिशीलता पैदा हुई। प्राचीन भारतीय गाँव एक तरह के आत्मनिर्भर समुदाय थे जो अपनी आवश्कता की लगभग सभी वस्तुएँ खुद ही पैदा कर लिया करते थे। यह आत्मनिर्भरता मार्क्स के शब्दों में भारतीय समाजों की अपरिवर्तनशीलता का सबसे बड़ा कारण थी।[45] यह गतिशीलता अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग समय पर पैदा हुई। जैसे–जैसे और जहाँ–जहाँ अंग्रेजों का राजनैतिक प्रभुत्व कायम होता गया और वैसे–वैसे और वहाँ–वहाँ समाज में इस गतिशीलता का संचार हुआ। पुराना राजतंत्र टूटा और साथ ही गाँवों की अपने आप में और अपने आप तक सीमित रहने की मानसिकता भी खत्म होने लगी। हालाँकि खेती पर पूर्णरूप से पूँजीवादी प्रभाव नहीं आया, फिर भी कुछ वस्तुओं की खेती मुनाफे के लिए ही होने लगी।

भूमि संबंधी नीतियाँ भी बदली गईं। किसानों पर लगान की नई दरें लागू की गईं। नए जमींदार बनाए गए। यह नए ढंग का जमींदार वर्ग था जो मूलतः मुनाफाखोरों, व्यापारियों और बनियों से मिलकर बना था।[46] ये जमींदार नए मध्यवर्ग का एक बड़ा हिस्सा थे। समय के साथ बंगाल के अलावा अन्य जगहों पर मशीने बनाने वाले कारखाने और उद्योग धंधे खुलते गए। आवागमन के साधनों के जरिए अब व्यक्ति एक से दूसरे स्थान पर जा सकता था और वहाँ की स्थितियों से परिचित हो सकता था। इससे क्षेत्रीयता की संकुचित भावना खत्म हुई और उसकी जगह एक तरह के राष्ट्रीयता बोध का उदय होना शुरू हुआ। पूरे देश में अब राष्ट्रीय स्तर पर पूँजीवादी व्यवस्था फैल गई, लेकिन यह राष्ट्र का विकास करने वाला राष्ट्रीय पूँजीवाद न होकर, राष्ट्र के संसाधनों का दोहन करने वाला उपनिवेशवाद था। परिवर्तनों के कारण भारतीय समाज में आई इस गतिशीलता ने नई स्थितियाँ पैदा की। पूरी व्यवस्था को संभालने के लिए

व्यापक प्रशासन तंत्र की जरूरत पड़ी और चूंकि औपनिवेशिक नीतियों के खिलाफ जनता के विद्रोह का खतरा भी था इसलिए उन्होंने ऐसे भारतीयों की तलाश की जो ऐसी स्थितियों को खत्म करने अथवा उनका दमन करने में अंग्रेजों का साथ दे सकें। भारतीय सिविल सेवा इसी का परिणाम थी। अंग्रेजी हितों को धारण करने वाले व्यक्तियों के निर्माण के लिए उन्होंने अंग्रेजी की एक पूरी 'शिक्षा नीति' तैयार की।[47] यह शिक्षा भारतीय समाज को शिक्षित और सभ्य बनाने के लिए नहीं दी जा रही थी। उद्योग धंधों में सस्ते तकनीशियनों की आवश्यकता थी, जिसके लिए आधुनिक ज्ञान–विज्ञान की जानकारी जरूरी थी, इसलिए अंग्रेजी शिक्षा दी गई। अंग्रेजों ने जगह–जगह बैंक खोले, उन्हें संभालने और चलाने के लिए शिक्षित व्ययक्तियों की आवश्यकता थी इसलिए अंग्रेजी शिक्षा प्रदान की गई। अंग्रेजी सरकार के आर्थिक हितों की रक्षा तथा उनके विरोधियों को सजा दिलवाने के लिए न्यायालयों की आवश्यकता थी, जिनमें सर्वोच्च पदों पर तो अंग्रेज होते ही थे बहुत से बड़े वकील भी अंग्रेज ही थे। परदेश में बहुत सी जगहों पर छोटे–बड़े न्यायालय खुले जिनके लिए पर्याप्त वकील हिन्दुस्तानियों में से ही हो सकते थे। वे ऐसे कानून के जरिए वकालत करते, जो अंग्रेजी हितो को ध्यान में रखकर बनाया गया था। खुद अंग्रेजों का इलाज तो मंहगे और भरोसेमंद अंग्रेज डॉक्टर कर सकते थे, लेकिन उनके शागिर्दों के इलाज के लिए भी अंग्रेजी चिकित्सा की आवश्यकता थी। इन सबसे अलग ऐसे सभी व्यक्तियों को अंग्रेजी शिक्षा प्रदान करने के लिए जिन अध्यापकों की आवश्यकता थी उन्हें बनाने के लिए भी अंग्रेजी शिक्षा जरूरी थी। इन्हीं परिस्थितियों के कारण अंग्रेजों द्वारा अंग्रेजी शिक्षा को प्रोत्साहित किया गया, जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक बुद्धिवादी मध्यवर्ग का उदय हुआ।

यहाँ एक सवाल यह उठता है कि क्यों नहीं अंग्रेजों ने ज्यादा 'भरोसेमंद' अंग्रेजों को ही इन सभी कार्यों के लिए भारत बुलाया, उन्होंने भारतीयों को इस कार्य के लिए क्यों चुना? इसका जवाब यह है कि भारतीयों के चयन में अंग्रेजों का दोहरा फायदा था। ध्यान देने की बात यह है कि आरंभ में उन्होंने उच्च पदों पर केवल अंग्रेजों को ही रखा था, लार्ड कार्नवालिस सचेत रूप से भारतीयों को प्रशासनिक व्यवस्था में न लेने के पक्षधर थे।[48] अंग्रेज जानते थे कि निचले स्तर के प्रशासनिक दायित्व को भारतीयों पर डाल देने से नीतियों का विरोध उतना उग्र रूप ग्रहण नहीं कर पाएगा जैसा कि अंग्रेजों द्वारा संचालित किए जाने पर होगा। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों और भारतीय जनता के बीच सेतु का कार्य भी शिक्षा प्राप्त यहीं का व्यक्ति कर सकता है जो भारतीयों की मानसिकता से ज्यादा परिचित हो। लेकिन इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण विजय लक्ष्मी पंडित बताती हैं जिनके अनुसार "सभी जगहों पर अंग्रेजों की नियुक्ति महँगी तो थी ही, उनके लिए भारतीय जलवायु भी अनुकूल नहीं पड़ती थी।"[49]

भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा दिए जाने के संबंध में ए. आर. देसाई ने ठीक लिखा है कि "भारत में अंग्रेजों की राजनीतिक, प्रशासनिक एवं आर्थिक आवश्यकताएँ थी, मूलतः उन्हीं के कारण भारत में आधुनिक शिक्षा की शुरूआत हुई।"[50] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पूँजीवादी आर्थिक–राजनैतिक व्यवस्था ने समाज को इतना जटिल बना दिया कि एक ऐसे मध्यवर्ग की आवश्यकता हुई जो इस जटिल व्यवस्था के संगठन सूत्र को संभाल सके।[51] अंग्रेजों ने भारतीयों के हितार्थ इस मध्यवर्ग को पैदा नहीं किया था, बल्कि यह परिस्थितियों के दबाव की देन था। इसलिए मैकाले के इस कथन कि "हम (भारतीयों का) एक ऐसा वर्ग पैदा करना चाहते हैं जो रंग और रक्त से भारतीय हो, किंतु विचार और व्यवहार में अंग्रेज हो"[52] का यह अर्थ कतई न निकाला जाय कि मध्यवर्ग के उदय और विकास में मैकाले का कोई हाथ रहा है बल्कि इससे केवल यही पता चलता है कि वे एक ऐसा वर्ग चाहते थे जो यूरोपीय संस्कृति और सभ्यता से परिचय पाकर उससे अभिभूत हो जाय। मैकाले की शिक्षा नीति, अपनी संस्कृति और सभ्यता के प्रति अपराधबोध से ग्रस्त और पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता पर मुग्ध सांस्कृतिक गुलामों को तैयार करने की नीति थी, स्वतंत्र सृजन शक्ति रखने वाले व्यक्तियों को तैयार करने की नहीं।

यहाँ इस बात की ओर संकेत करना जरूरी है कि भारत में आधुनिक मध्यवर्ग का उदय एक साथ नहीं हो गया। चूँकि इस वर्ग का उदय नए उद्योगों, नई प्रशासन व्यवस्था और अंग्रेजों के राजनैतिक प्रभुत्व से जुड़ा हुआ था, इसलिए जहाँ–जहाँ यह व्यवस्था स्थापित होती गई, वहाँ–वहाँ यह मध्यवर्ग भी अस्तित्व में आता गया। इसीलिए मध्यवर्ग का जन्म बंगाल में सबसे पहले हुआ था।

5. औपनिवेशिक भारत में मध्यवर्ग

बंगाली समाज ही आधुनिक परिवर्तनों के दौर से सबसे पहले गुजरा, हालाँकि आगे चलकर शेष भारत भी कमोबेश उसी रास्ते पर चला। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले भारतीयों पर इस शिक्षा के दोनों तरह के प्रभाव पड़े– सकारात्मक भी और नकारात्म्क भी। सकारात्मक प्रभाव तो ये पड़ा कि वे आधुनिक ज्ञान–विज्ञान से परिचित हुए। इसी शिक्षा से वे मानवतावाद और उदारतावाद के साथ–साथ लोकतांत्रिक विचारों से भी परिचित हुए। इस शिक्षा के माध्यम से उन्होंने पाश्चात्य संस्कृति को जाना तथा उसमें अंतर्निहित वैज्ञानिक और लोकतांत्रिक मूल्यों की ओर भी वे आकर्षित हुए। इसी शिक्षा के माध्यम से उन्हें अपने समाज की रूढ़ियों का भी गहरा अहसास हुआ। लेकिन इन सारे सकारात्मक पक्षों का कोई बहुत व्यापक प्रभाव तत्कालीन समाज पर नहीं हुआ,

कारण यह कि मध्यवर्ग का बहुसंख्यक हिस्सा अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों के प्रति उदासीन था।

अंग्रेजी शिक्षा के नकारात्मक प्रभाव कहीं अधिक गहरे थे। पहला प्रभाव तो यही था कि वे एक तरह के सांस्कृतिक हीनताबोध से ग्रस्त हो गए, जिससे उबरने के लिए उन्होंने अंग्रेजों के अनुकरण को ही आदर्श मान लिया। अंग्रेजी भाषा का मोह उनके ऊपर कुछ इस तरह सवार हुआ कि उनमें से बहुत से लोगों ने अपनी मातृभाषा तक का प्रयोग करना छोड़ दिया। उन्होंने पाश्चात्य संस्कृति के बाहरी लक्षणों और दिखावों पर ही ज्यादा ध्यान केंद्रित किया और यही कारण था कि उन्होंने उसकी बुराइयों को कहीं ज्यादा मन से ग्रहण किया। आर्थिक दृष्टि से समृद्ध ढेर सारे मध्यवर्गीयों ने अंग्रेजों की भव्य और विलासितापूर्ण जीवनशैली की नकल की, इतना ही नहीं इनमें कुछ ऐसे भी व्यक्ति रहे जिन्हें न केवल शराब का शौक लगा बल्कि वे 'रंडीबाजी' तक से बाज नहीं आए।[53] पाश्चात्य संस्कृति को अपनाते हुए उन्होंने किसी भी तरह के आलोचनात्मक विवेक का सहारा नहीं लिया इसीलिए पूरन चंद जोशी इस आरंभिक मध्यवर्ग को 'आंग्ल मध्यवर्ग' का नाम देते हैं। उनकी दृष्टि में "यह मध्यवर्ग अंग्रेजी संस्कृति को बेहतर मानता था और अपने लोगों और उनकी परम्पराओं को हेय दृष्टि से देखता था। इस वर्ग के अधिकाँश लोगों ने अंग्रेजों की संस्कृति, उनके मिथकों और विश्वासों को सहज ही स्वीकार कर लिया।"[54] बहुत सारे लोग तो आधुनिक बनने के चक्कर में ईसाई तक बन गए। इस तरह के आचरणों के प्रतिक्रिया स्वरूप ही कुछ लोग अंग्रेजी का विरोध तक करने लगे थे।

लेकिन सारा का सारा मध्यवर्ग समरूपी प्रवृत्ति का नहीं था, उनमें विविध अंतरधाराएँ मौजूद थीं। इन अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त मध्यवर्गीयों में कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्होंने भले और बुरे के अपने आलोचनात्मक विवेक को न सिर्फ बनाए रखा, बल्कि उसे और भी विकसित किया। ऐसे लोगों ने ज्ञान–विज्ञान और लोकतांत्रिक मूल्यों को प्रचारित भी किया। उन्होंने अंग्रेजी संस्कृति के सकारात्मक पक्षों को ग्रहण किया, जहाँ का समाज न तो भारतीय समाज की तरह स्पृश्य और अस्पृश्य जातियों में बँटा हुआ था और न ही जहाँ स्त्री के प्रति इतना घृणित और निर्मम व्यवहार किया जाता था जैसा कि भारत में। इन्हीं मध्यवर्गीय लोगों ने ब्रह्म समाज, आर्य समाज जैसे तमाम संगठनों का निर्माण किया और समाज सुधार के ढेर सारे आन्दोलन भी चलाए। इन आन्दोलनों में जातिगत भेदभाव से लेकर धार्मिक रूढ़िवाद तक का खंडन मौजूद था। इसके साथ ही इन आन्दोलनों के भीतर सर्वाधिक महत्वपूर्ण चिंता स्त्री समस्याओं को लेकर दिखाई देती है जिसमें सती प्रथा का विरोध, बाल विवाह का विरोध और विधवा पुनर्विवाह जैसे मुद्दे शामिल थे। ऐसे मध्यवर्गीयों में सबसे प्रमुख नाम राजाराम मोहन राय का था। इस तरह की सकारात्मक भूमिका निभाने वाले मध्यवर्गीयों के महत्व को पहचानते हुए ही पी.

सी. जोशी ने उन्हें 'आधुनिकता के भाष्यकार' की संज्ञा दी है।[55] उन्नीसवीं शताब्दी में आरंभ हुए सुधार आन्दोलन के आधार पर ही उसे नवजागरण का दौर भी कहा जाता है। मध्यवर्ग के संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यही है कि पूरे औपनिवेशिक दौर में चलने वाले लगभग हरेक आन्दोलन में इसके सदस्यों की भूमिका नेतृत्वकारी रही।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार का सर्वाधिक सकारात्मक प्रभाव राष्ट्रवाद का उदय था, इस प्रसंग में अंग्रेजी शिक्षा के महत्व को स्थापित करते हुए सुमित सरकार ने लिखा है कि "अंग्रेजी शिक्षा अपने साथ विश्व–व्यापी विचारधाराओं की चेतना भी लाई, जिसके बिना राष्ट्रवाद के सचेत सिद्धांतों का विकास कठिन होता।"[56] राष्ट्रवाद ने व्यापक मध्यवर्ग को आन्दोलित किया और आगे चलकर उसका एक बड़ा हिस्सा इन आंदोलनों से जुड़ गया। पवन वर्मा बिल्कुल ठीक कहते हैं कि राष्ट्रवाद ने भारतीय मध्यवर्ग को एक 'नैतिक आयाम' दिया।[57]

भारतीय मध्यवर्ग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ राजनैतिक क्षेत्र में रहीं। राष्ट्रवाद के पहले जहाँ मध्यवर्ग में प्रायः राजभक्ति ही देखने को मिलती थी वहीं अगले चरण में यह राजभक्ति देशभक्ति में बदलने लगी। मध्यवर्ग का एक बड़ा तबका हालाँकि अपने आप को राजभक्त कहता था लेकिन साथ ही वह दबी जबान से उसकी नीतियों की आलोचना भी करता था। इस स्थिति का परिचय उस दौर में लिखे गए साहित्य से भी मिलता है। यहाँ यह बात गौरतलब है कि वह प्रायः उन्हीं नीतियों की आलोचना करता था जो उसके हितों को चोट पहुँचाती थीं। भारतीय मध्यवर्ग की आत्ममुग्धता का ही यह एक प्रमाण है कि प्रायः उसने अपने हितों को ही राष्ट्रहित बनाकर देखा और दिखाया। राष्ट्रवाद के अगले चरण में आकर राजभक्ति बुरी चीज बन गई और राष्ट्रभक्ति को सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा। इस दौर में आकर राजनैतिक संगठनों का जन्म अनिवार्य हो गया था, जिनमें राष्ट्रीय स्तर का सबसे पहला संगठन था भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस। आरंभ में कांग्रेस में मध्यवर्गीयों की संख्या कम नहीं थी और बाद में शनै–शनै बढ़ती गई।

अंग्रेजी राज को लेकर मध्यवर्ग की स्थिति दुविधापूर्ण थी। यह गौरतलब है कि नवजागरण काल में मध्यवर्ग के बीच सामाजिक–राजनैतिक चेतना के आधार पर एक फाँक देखने को मिलती हैं। कुछ लोग ऐसे थे जो सामाजिक रूढ़ियों का विरोध करते थे, लेकिन अंग्रेजी राज का समर्थन करते थे जबकि कुछ ऐसे भी लोग थे जो अंग्रेजी राज्य का विरोध करते थे, लेकिन भारतीय संस्कृति के नाम पर उसकी रूढ़ियों पर पर्दा डालने की कोशिश करते थे।[58] यह भी महत्वपूर्ण बात है कि दबे–कुचले वर्ग के जिन लोगों की स्थिति अंग्रेजी राज में आकर सुधरी थी वे भी अंग्रेजी राज को बेहतर मानते थे। ऐसे लोगों में उस दौर के प्रमुख सुधारक ज्योतिबा फुले का नाम भी शामिल है।[59] आगे चलकर अम्बेडकर ने भी फुले के संघर्षों को और आगे बढ़ाया।

बीसवीं शताब्दी में आकर राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलनों के बीच का यह बिलगाव लगभग खत्म हो गया। गाँधीजी के आगमन के बाद से कांग्रेस में निम्नवर्गीय जनता की समस्याओं को केंद्रीय स्थान मिलने लगा। हालाँकि कांग्रेस की मुख्य माँग पूर्ण स्वराज अंततः जिस राजनैतिक आजादी पर केंद्रित थी वह निम्नवर्गीय जनता की सबसे बड़ी और आखिरी समस्या नहीं थी। यही कारण है कि इस आजादी के मिलने के बाद भी उनकी स्थितियों में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आया। राष्ट्रीय आन्दोलन की इसी प्रवृत्ति को लक्षित करते हुए जवाहर लाल नेहरू ने लिखा था कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मध्यवर्गीय जनता का आन्दोलन है और जिसका मुख्य उद्देश्य फिलहाल राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना है, समाज व्यवस्था को बदलना नहीं।[60] बहरहाल, राजनैतिक आजादी ने भी समाज को बदला, इसमें संदेह नहीं। कितना बदला, यह एक दूसरा सवाल है।

इस प्रकार राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के दौर में मध्यवर्गीयों के दो खेमे नजर आते हैं, जिनमें एक को प्रगतिशील और दूसरे को प्रतिक्रियावादी कहा जा सकता है। मध्यवर्गीयों के ये दो रूप केवल राजनीतिक स्तर पर थे।

संदर्भ और टिप्पणियाँ

1. का. मार्क्स– फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित रचनाएँ, खंड –3 भाग– दो, (हिन्दी अनुवाद) प्रगति प्रकाशन, मास्को, संस्करण– 1978, पृष्ठ–63–66
2. वाई.पी. छिब्बर, 'फ्रॉम कास्ट टू क्लास : ए स्टडी ऑफ द इंडियन मिडिल क्लास', एसोसिएटेड पब्लिसिंग हाउस नई दिल्ली, 1968, पृष्ठ –20–21
3. वही, पृष्ठ –52–53
4. रेमंड विलियम्स, 'की वर्ड्स : वोकेवलरी ऑफ कल्चर एंड सोसाइटी', फोंटाना प्रेस लंदन, 1983, पृष्ठ –60–61
5. का. मार्क्स– फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित रचनाएँ, खंड –1 भाग–1, प्रगति प्रकाशन, मास्को, संस्करण– 1978, पृष्ठ –77
6. टी.बी. वॉटमोर, 'समाजशास्त्र' : (हिन्दी अनुवाद–गोपाल प्रधान), ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2004, पृष्ठ –190
7. का. मार्क्स– फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित रचनाएँ, खंड –1 भाग–1, पूर्वोक्त, पृष्ठ –157
8. अलेक्जेण्डर बुजुएव, 'पूँजीवाद क्या है?', प्रगति प्रकाशन, मास्को, संस्करण– 1978, पृष्ठ –116
9. एमिल बर्न्स, 'मार्क्सवाद क्या है?' पीपुल्स पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली, तेरहवीं हिन्दी आवृत्ति–1999, पृष्ठ –66
10. टी.बी. वॉटमोर, 'समाजशास्त्र', पूर्वोक्त, पृष्ठ–186
11. का. मार्क्स– फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित रचनाएँ, खंड –1 भाग–1, पूर्वोक्त, पृष्ठ –157
12. (संपादक) धीरेंद्र वर्मा तथा अन्य, 'हिन्दी साहित्य कोश भाग–1', वाराणसी ज्ञानमंडल लि., 2000, पृष्ठ – 473
13. वही, पृष्ठ –111
14. वही, पृष्ठ –347
15. टी.बी. वॉटमोर, 'समाजशास्त्र', पूर्वोक्त, पृष्ठ –186
16. शैलेंद्र प्रसाद पॉथरी, 'आधुनिक भारतीय नवजागरण' में उद्धृत, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 1984, पृष्ठ –146
17. रविन्दर कुमार, 'आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास' (हिन्दी अनुवाद–आदित्य नारायण सिंह), ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 1997, पृष्ठ –8

18. श्याम सुन्दर घोष, 'भारतीय मध्यवर्ग', बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, अगस्त–1982, पृष्ठ –2
19. श्यामाचरण दुबे, 'भारतीय समाज', (हिन्दी अनुवाद–वंदना मिश्र), नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली–2001, पृष्ठ –91
20. वही, पृष्ठ –91
21. भगवान प्रसाद, 'सोशियो–इकॉनोमिक स्टडी ऑफ अर्बन मिडिल क्लास' स्टर्लिंग पब्लिशर्स (प्रा.) लि. दिल्ली, 1968, पृष्ठ –8
22. टी.बी. वॉटमोर, 'समाजशास्त्र', पूर्वोक्त, पृष्ठ –188
23. पवन कुमार वर्मा, 'मिडिल क्लास वेल्यूज एण्ड द क्रियेशन ऑफ ए सिविल सोसाइटी' नामक लेख, 'मिडिल क्लास वेल्यूज इन इंडिया एंड वेस्टर्न यूरोप' (पुस्तक), सं.– इम्तियाज अहमद और हेल्मट रेफील्ड, सोशल साइंस प्रेस, नई दिल्ली, 2001, पृष्ठ –87
24. भगवान प्रसाद, 'सोशियो–इकॉनॉमिक स्टडी ऑफ अर्बन मिडिल क्लास', पूर्वोक्त, पृष्ठ –5
25. आन्द्रे बेते, 'द सोशल करेक्टर ऑफ द इण्डियन मिडिल क्लास' (लेख) 'मिडिल क्लास वेल्यूज इन इंडिया एंड वेस्टर्न यूरोप', (पूर्वोक्त) में संकलित, पृष्ठ –74
26. ताराचंद, 'भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास', खण्ड–2, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, 1969, पृष्ठ –104
27. गुरचैन सिंह, 'द न्यू मिडिल क्लास इन इंडिया'– ए 'सोशियोलॉजिकल एनालिसिस', रावत पब्लिकेशन, जयपुर– 1985, पृष्ठ –19
28. ये. अगिवालोवा– ग. दोन्सदोवा, 'मध्ययुग का इतिहास', (हिन्दी अनुवाद–नरेश वेदी), प्रगति प्रकाशन, मास्को– 1989, पृष्ठ – 223–24
29. गुरचैन सिंह, 'द न्यू मिडिल क्लास इन इंडिया– ए सोशियोलॉजिक एनालिसिस, पूर्वोक्त, पृष्ठ –18
30. ये. अगिवालोवा– ग. दोन्सदोवा, 'मध्ययुग का इतिहास', पूर्वोक्त, पृष्ठ –225
31. वही, पृष्ठ –272–73
32. वही, पृष्ठ –294–97
33. गुरचैन सिंह, 'द न्यू मिडिल क्लास इन इंडिया– ए सोशियोलॉजिक एनालिसिस', पूर्वोक्त, पृष्ठ –25
34. वही, पृष्ठ –25

35. का. मार्क्स– फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित रचनाएँ, खंड –1 भाग–दो, पूर्वोक्त, पृष्ठ –10–11,
36. गुरचैन सिंह, 'द न्यू मिडिल क्लास इन इंडिया– ए सोशियोलॉजिक एनालिसिस', पूर्वोक्त, पृष्ठ–22
37. वही, पृष्ठ –18
38. का. मार्क्स– फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित रचनाएँ, खंड –1 भाग–दो, पूर्वोक्त, पृष्ठ –157
39. पी.सी. जोशी 'आजादी की आधी सदी' (लेख), बहुबचन (त्रैमासिक), प्रधान संपादक–अशोक वाजपेयी, अंक–2, वर्ष–2, जनवरी–फरवरी–मार्च–2002, महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, पृष्ठ –322
40. ताराचंद, 'भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास', खण्ड–2, पूर्वोक्त, पृष्ठ –106, 108, 112
41. वही, पृष्ठ –109–10
42. वही, पृष्ठ –103
43. का. मार्क्स– फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित रचनाएँ, खंड –1 भाग–दो, पूर्वोक्त, पृष्ठ –256
44. सव्यसाची भट्टाचार्य, 'आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास', (हिन्दी अनुवाद–डॉ. माहेश्वर), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सातवीं आवृत्ति–2004, पृष्ठ –25–26
45. का. मार्क्स– फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित रचनाएँ, खंड –1 भाग–दो, पूर्वोक्त, पृष्ठ –250–52 तथा 257–58
46. सव्यसाची भट्टाचार्य, 'आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास', पूर्वोक्त, पृष्ठ –49–50
47. पवन कुमार वर्मा, 'भारत के मध्यवर्ग की अजीब दास्तान', (हिन्दी अनुवाद–अभय कुमार दुबे), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999, पृष्ठ –20–21
48. ताराचंद, 'भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास', खण्ड–2, पूर्वोक्त, पृष्ठ –50–53
49. विजय लक्ष्मी पंडित, 'राजनीतिक अभिजन : भारतीय संदर्भ', मैकमिलन, नई दिल्ली, 1978, पृष्ठ –56

50. ए. आर. देसाई, 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि', (हिन्दी अनुवाद–प्रयाग दत्त त्रिपाठी), द्वितीय संस्करण, आवृत्ति– 1991, पृष्ठ –112
51. 'हिन्दी साहित्य कोश' खण्ड–1, पूर्वोक्त, पृष्ठ –473
52. के. दामोदरन, 'भारतीय चिंतन परम्परा', केंद्रीय हिन्दी निदेशालय, पृष्ठ –357 पर उद्धृत
53. मैनेजर पाण्डेय, 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, प्रथम संस्करण–1989, पृष्ठ –278
54. पूरनचंद जोशी, 'संस्कृति, विकास और संचार क्रांति', ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली–2001, पृष्ठ –180
55. वही, पृष्ठ –268
56. सुमित सरकार, 'आधुनिक भारत', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, आठवीं आवृत्ति–2001, पृष्ठ –84
57. पवन कुमार वर्मा, 'भारत के मध्यवर्ग की अजीब दास्तान', पूर्वोक्त, पृष्ठ –47
58. के.एन. पणिक्कर, 'आधुनिक भारत का सामाजिक और बौद्धिक इतिहास' (लेख), 'आधुनिक भारत', (सं. विपन चंद्र) में संकलित, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली–2000
59. ज्योतिबा फुले, 'गुलामगीरी', (हिन्दी अनुवाद–डॉ. विमल कीर्ति), संगीता प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृष्ठ –95
60. जवाहरलाल नेहरू, 'मेरी कहानी', (हिन्दी अनुवाद), सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली–1971, पृष्ठ–514

अन्य पुस्तकें

1.डॉ. वीर भारत तलवार, 'रस्साकसी : उन्नीसवीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत', सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2002

अध्याय–तीन

"हरिशंकर परसाई के व्यंग्यों में मध्यवर्ग का चरित्र"

चरित्र व्यक्ति की पहचान कराता है। असल में चरित्र, वह चाहे एक व्यक्ति का हो, समुदाय का हो अथवा किसी वर्ग विशेष का, इस बात से निर्धारित होता है कि उसके कर्म कैसे हैं। यहाँ 'कर्म' शब्द व्यापक अर्थ में इस्तेमाल किया जा रहा है जिसमें विवेच्य व्यक्ति, समुदाय अथवा वर्ग विशेष की सोच, काम करने का उसका तौर–तरीका, उसका आचरण और व्यवहार शामिल हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कि दूसरे के साथ उसके या उनके संबंध कैसे हैं और दूसरे लोगों पर इसका क्या प्रभाव पड़ रहा है, दूसरे लोग उससे या उनसे किस तरह प्रभावित हैं। हर रचनाकार किसी भी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष का चरित्र इन्हीं तत्वों को ध्यान में रखकर निर्धारित करता है। हरिशंकर परसाई के व्यंग्यों में भी मध्यवर्ग का चरित्र इसी तरह निर्मित और इसी रूप में प्रस्तुत हुआ है। विषय पर उतरा जाये, इससे पहले यह बता देना जरूरी है कि किसी व्यक्ति, समुदाय, अथवा वर्ग–विशेष का कोई एक सार्वभौम चरित्र नहीं होता, चरित्र के विभिन्न पहलू हुआ करते हैं। कोई भी व्यक्ति, समुदाय अथवा वर्ग–विशेष चरित्र से न तो एकदम अच्छा होता है और न ही एकदम बुरा। इसलिए इस अध्याय में जहाँ कहीं भी सार्वभौम वक्तव्य आएँ, उसके लिए दोष हमारी परम्परा को दिया जाए, मुझे नहीं। ऐसा इसलिए, क्योंकि विचार करने का यही शऊर हमें विरासत में मिला है और विचार भाषारहित नहीं होते।

हरिशंकर परसाई स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी साहित्य के एक बेहद महत्वपूर्ण रचनाकार हैं और व्यंग्य के मामले में तो शीर्षस्थ। हरिशंकर परसाई का लेखन स्वतंत्रता के बाद का लेखन है। उनका लेखन कर्म 1947 ई. से शुरू होता है और आर्थिक उदारीकरण की शुरूआत के कुछ समय बाद तक का अर्थात 1995 ई. तक का है। इस समय भारतीय मध्यवर्ग का जो रूप रहा, जो स्थिति रही, वह परसाई के व्यंग्यों में अभिव्यक्त हुई है। उन्होंने अपने ढेरों व्यंग्यों में मध्यवर्ग की संस्कृति, रहन–सहन, खान–पान, जीवन–मूल्य, उसकी सोच, दृष्टिकोण, उसकी मानसिकता, उसके आचरण और व्यवहार को जगह दी है, उसकी लालसाएँ और उसके 'दुःख' भी आए हैं। यहाँ तक कि किसी स्थिति विशेष में पड़ा हुआ एक मध्यवर्गी व्यक्ति किस तरह का आचरण करता है, दूसरों के सामने किस तरह अपने आपको पेश करता है, और ऐसे में उसके सामान्य हाव–भाव किस तरह असामान्य हो जाते हैं, तब वह मध्यवर्गीय व्यक्ति कितना हास्यास्पद, कितना दयनीय नजर आता है, इसका बेहद रोचक चित्रण और वर्णन हरिशंकर परसाई ने अपने व्यंग्यों में किया हैं। मध्यवर्ग में भी शहरी और शिक्षित मध्यवर्ग ने परसाई का ध्यान विशेष रूप से आकृभट किया है। उन्होंने बुद्धिजीवी, कवि, लेखक और विश्वविद्यालय से लेकर विद्यालय तक के अध्यापक वर्ग की मानसिकता पर सबसे ज्यादा 'फोकस' किया है। इनमें बहुत से उच्च मध्यवर्ग से सम्बद्ध है और बहुत से निम्न मध्यवर्ग से। निम्न मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति निम्नवर्ग जैसी गिरी हुई नहीं होती, उससे अच्छी ही होती

है, फिर भी उसके यहाँ अभावों की कमी नहीं है। निम्न मध्यवर्ग के इन अभावों ने परसाई की सहानुभूति बटोरी है। मध्यवर्ग के सकारात्मक और नकारात्मक–दोनों ही पक्ष परसाई के व्यंग्यों में उद्‌घाटित हुए हैं, पर जैसा कि जाहिर है कि व्यंग्य विसंगतियों और विडम्बनाओं को अपनी खुराक बनाता है, इसलिए उनके व्यंग्यों में मध्यवर्गीय जीवन के विडम्बनात्मक पक्षों को ज्यादा जगह मिली है। हरिशंकर परसाई के ऐसे व्यंग्यों को पढ़कर मध्यवर्ग की मध्यवर्गीयता को बड़ी सहजता से जाना जा सकता है। मध्यवर्ग की मध्यवर्गीयता उसके आचरण और व्यवहार में इस तरह नहीं उद्‌घाटित होती हैं कि एक मध्यवर्गीय व्यक्ति, दूसरे निम्नवर्गीय व्यक्ति से अहंकारपूर्वक ये कहे कि रे निम्नवर्गी, देख मेरे पास क्या–क्या है? तेरे पास क्या है खाक? बल्कि यह एक मध्यवर्गीय व्यक्ति के शांत और संयत व्यवहार में सहज रूप से अभिव्यक्त होती है। उसकी यह मध्यवर्गीयता या उसकी मानसिकता को इसी अध्याय में आगे मध्यवर्गीय चरित्र के विश्लेषण के क्रम में देखा जा सकता है।

हरिशंकर परसाई की मध्यवर्ग पर सबसे महत्वपूर्ण और सशक्त व्यंग्य रचना है – 'एक मध्यवर्गीय कुत्ता'। परसाई के जितने भी मध्यवर्ग से सम्बंधित व्यंग्य हैं, उन सारे व्यंग्यों का प्रतिनिधित्व करता है यह व्यंग्य। इसमें मध्यवर्ग का जीवन, मध्यवर्गीय जीवन की विडम्बना, उसकी मानसिकता तथा उसका आचरण और व्यवहार भी बतलाया गया है। इसमें हरिशंकर परसाई ने मध्यवर्ग के चरित्र को कुत्ते के माध्यम से उद्‌घाटित किया है। कुत्ते का मध्यवर्गीय आधार है – कुत्ते के गले में पट्‌टा होना और उस पट्‌टे में जंजीर का लगा होना, लॉन पर टहलना, मुफ्त का खाना मिलना।[1] यानी कुत्ते का मालिक है और अगर उसने कुत्ता पाला है तो उसके भोजन की व्यवस्था तो होगी ही। इस प्रकार उसे अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कठिन संघर्ष नहीं करना पड़ता, कोई मेहनत नहीं करनी पड़ती। सहज रूप से यह 'मध्यवर्गीय कुत्ता' अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर ले रहा है। यह स्थिति उसे निम्न वर्गीय कुत्ते से न केवल अलग कर रही है अपितु उसकी एक अलग पहचान भी निर्धारित कर रही है। इससे पता चलता है कि पट्‌टे और जंजीर वाला यह कुत्ता सुविधाओं को भोग रहा है। यह सुविधाभोगी है। मध्यवर्ग के चरित्र का जो पहलू सबसे पहले पहचान में आता है, वह है उसका सुविधाभोगी होना। इसके ठीक विपरीत निम्नवर्ग का चरित्र असुविधाभोगी ही कहा जा सकता है। इसे अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कठिन संघर्ष करना पड़ता है। सहज रूप से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना इस वर्ग के लोगों के लिए कठिन है। मूलभूत आवश्यकताओं से सम्बंधित ढेरों परेशानियाँ इस वर्ग के सामने मुँह बाये खड़ी रहती हैं। इसी व्यंग्य–रचना से इसके प्रमाण दिये जा सकते हैं। 'सर्वहारा कुत्ते' यानि निम्न वर्गीय कुत्ते 'सड़किया' कुत्ते हैं, घूरे पर पड़ा अन्न खाते हैं या फिर चुराकर रोटी।[2] निम्नवर्ग के सम्बन्ध में इन चीजों का एक खास अर्थ हो जाता है।

लॉन पर टहलने वाले कुत्ते की तुलना में सड़क पर टहलना और घूरे पर पड़ा अन्न खाना 'सर्वहारा कुत्ते' की निम्न आर्थिक स्थितियों और उसके निम्न सामाजिक 'स्टेट्स' को दर्शाता है। इसके अतिरिक्त 'सर्वहारा कुत्ते' के लिए रोटी चुराकर खाना भी इतना सहज नहीं है, रोटी चुराने के लिए भी उसे सही समय का इंतजार करना पड़ता है, इसमें भी मेहनत लगती है। यह उसके संघर्ष को दर्शाता है। 'मध्यवर्गीय कुत्ते' का लॉन में टहलना, मध्यवर्गीय व्यक्ति की अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की निश्चिंतता को दर्शाता है। यह मध्यवर्ग के चरित्र का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है।

मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति समाज में उसका एक रूतबा बनाती है। जहाँ उच्चवर्ग की तुलना में मध्यवर्ग का रुतबा निम्न होता है, वही निम्नवर्ग की तुलना में उच्च होता है। समाज के तीनों वर्गों का अपना–अपना जीवनस्तर है, अपनी–अपनी पहचान है, अपना–अपना रूतबा है। उच्च वर्ग और निम्नवर्ग समाज के ऊपर–नीचे के दो हिस्से हैं, इनके बीच मध्यवर्ग है, लेकिन इन दोनों हिस्सों के बीच वह फँसा हुआ नहीं है। हरिशंकर परसाई उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के बीच पड़े मध्यवर्ग की डाँवाडोल स्थिति को रेखांकित करते हैं, और इसकी विडम्बनात्मक स्थिति को भी। परसाई जी दृष्टि में मध्यवर्ग कभी उच्चवर्ग की तरफ हो जाता है और कभी निम्नवर्ग की तरफ। इस स्थिति को वे कुत्तों के प्रसंग के माध्यम से ही दर्शाते हैं। व्यंग्य–नायक 'मैं' अपने एक स्नेही के पास जाते हैं। वहाँ कुछ दिन रुकते हैं। इस बीच वे मेजबान स्नेही के 'एक मध्यवर्गीय कुत्ते' की गतिविधियों से परिचित होते हैं और साथ ही दो 'सड़किया' सर्वहारा कुत्तों से भी। व्यंग्य नायक 'मैं' देखता है कि उनके मित्र का मध्यवर्गीय कुत्ता उन दो सर्वहारा कुत्तों पर जब–तब भौंकता रहता है। वे दोनों इसे बड़े गौर से देखते, पर सहम जाते और यहाँ–वहाँ हो जाते। रात को जब वे दोनों कुत्ते भौंकते, तो यह 'मध्यवर्गीय कुत्ता' भी भौंकता। परसाई जी व्यंग्य–नायक 'मैं' के माध्यम से उस 'मध्यवर्गीय कुत्ते' के चरित्र को रेखांकित करते हुए कहते हैं – "यह कुत्ता उन सर्वहारा कुत्तों पर भौंकता भी है और उनकी आवाज में आवाज भी मिलता है। कहता है– 'मैं तुममें शामिल हूँ।' उच्चवर्गीय झूठा रोब भी और संकट में सर्वहारा के साथ भी– यह चरित्र है इस कुत्ते का। यह मध्यवर्गीय चरित्र है। यह मध्यवर्गीय कुत्ता है। उच्चवर्गीय होने का ढोंग भी करता है और सर्वहारा के साथ मिलकर भौंकता भी है।"[3] यहाँ मध्यवर्ग के चरित्र को सीधे–सीधे और स्पष्ट शब्दों में बतला दिया गया है। यह मध्यवर्ग का दिखावटी आचरण है कि जो वह नहीं है, वैसा दिखने की कोशिश कर रहा है। उच्चवर्ग और मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति में कोई नजदीकी रिश्ता नहीं है, बावजूद इसके, वह अपने आचरण से उच्चवर्गीय दिखने का निरर्थक प्रयास कर रहा है। अपने से निम्न आर्थिक स्थिति वाले पर वह रौब गाँठता है। रौब गाँठकर यह बताने की कोशिश कर रहा है कि वह इतनी छोटी चीज नहीं है जितना वह (निम्नवर्गीय) समझ

रहा है। वह विशिष्ट हैसियत वाला आदमी है। यह उसका पाखण्डपूर्ण आचरण है। जब रात को किसी आसन्न संकट को जानकर 'सर्वहारा कुत्ते' भौंकते हैं तो पट्टे–जंजीर वाला यह मध्यवर्गीय कुत्ता भी उनके साथ हो लेता है। वह उन सर्वहारा कुत्तों के स्वर में स्वर मिलाने लगता है और यह दर्शाने लगता है कि मध्यवर्ग का उच्चवर्ग की तुलना में निम्नवर्ग के साथ ज्यादा नजदीकी रिश्ता है। यानी जो निम्नवर्ग का संकट है, वह केवल निम्नवर्ग का संकट नहीं है, वह मध्यवर्ग का भी संकट है। 'एक मध्यवर्गीय कुत्ता' नामक व्यंग्य यह दिखाने की कोशिश करता है कि मध्यवर्ग का हित उच्चवर्ग के साथ जुड़ने में नहीं, अपितु निम्नवर्ग की तरफ होने में है क्योंकि 'आने वाला संकट' केवल निम्नवर्ग के लिए नहीं है, वह मध्यवर्ग के लिए भी है। ऐसा इस व्यंग्य में परसाई जी का मानना है।

यहाँ इस सम्बंध में कुछ सवाल उठते हैं। कुत्तों के इस प्रसंग के साथ जब समाज के वर्गों का ताल–मेल बिठाया जाता है तो यह बात सही तरीके से समझ में नहीं आती कि मध्यवर्ग के ऊपर कौन सा संकट आ रहा है और इस संकट को पैदा करने वाले कौन है? निम्नवर्ग के ऊपर संकट की बात तो समझ में आती है, पर मध्यवर्ग के ऊपर संकट की बात बिल्कुल समझ में नहीं आती। और ये बात भी बिल्कुल पचने में नहीं आती कि किसी संकट विशेष में समाज का मध्यवर्ग, निम्नवर्ग के साथ हो जाता है। ऐसा हमारे अनुभव में नहीं है। यह बात पूरे मध्यवर्ग के सम्बंध में कही जा रही है। पर ध्यान दूसरे पहुलओं पर भी देना जरूरी है। संकट पूरे मध्यवर्ग पर एकदम नहीं टूट पड़ता, क्योंकि ऐसा हो जाए तो समाज में भारी परिवर्तन, भारी उथल–पुथल मच सकती है। इसलिए ऐसा देखने में जरूर आया है कि मध्यवर्ग पर यह संकट टुकड़ों–टुकडों में आता है और तब मध्यवर्ग के ये टुकड़े अपने को निम्नवर्ग के साथ जोड़कर देखते हैं और अपनी समस्या को उसकी समस्या के साथ मिला देते हैं। तब दोनों का सम्मिलित स्वर उभर कर सामने आता है। ये हमारा अपना अनुभव है। 'एक मध्यवर्गीय कुत्ता' व्यंग्य की इस पंक्ति 'संकट के समय सर्वहारा के साथ' का आज के समय में यही अर्थ हो सकता है। इस प्रकार 'उच्चवर्गीय अहंकार और संकट में सर्वहारा के साथ – मध्यवर्ग के दोहरे चरित्र की तरफ साफ संकेत करते हैं।

मध्यवर्ग अपने आचरण और व्यवहार में उच्चवर्गीय अहंकार ही व्यक्त नहीं करता, अपितु निम्नवर्गीय दीनता भी प्रकट कर देता है। उसके स्वभाव के ये दोनों पहलू समय और परिस्थिति के अनुसार प्रकट होते हैं। अपने व्यंग्य 'धन्यवाद भाषण' में वे लिखते हैं– "मध्यवर्ग का व्यक्ति एक अजब जीव होता है। एक ओर उसमें उच्चवर्ग का अहंकार और दूसरी ओर निम्नवर्ग की दीनता होती है। अहंकार और दीनता से मिलकर बना उसका व्यक्तित्व बड़ा विचित्र होता है। वह बड़े साहब के सामने दुम हिलाता है और चपरासी के सामने शेर बन जाता है।"[4] वह चपरासी के सामने ही नहीं, अपितु

किसी भी निम्नवर्गीय व्यक्ति के सामने 'शेर' बन सकता है अर्थात् अपना उच्चवर्गीय अहंकार प्रदर्शित कर सकता है लेकिन परिस्थिति पलटते ही वह निम्नवर्गीय दीनता भी अंगीकार कर लेता है। मध्यवर्ग के उच्चवर्गीय अहंकार को 'एक मध्यवर्गीय कुत्ता' व्यंग्य में मध्यवर्गीय चरित्र के विश्लेषण के क्रम में देखा जा चुका है और उसकी निम्नवर्गीय दीनता को परसाई के 'लघुशंका न करने की प्रतिष्ठा' व्यंग्य में देखा जा सकता है। इस व्यंग्य का एक पात्र शर्मा साहब दफ्तर के 'बॉस' हैं, दफ्तर के अन्य बाबुओं की तुलना में किसी ऊँचे ओहदे पर हैं, इसीलिए दफ्तर के उनके सारे मातहत कर्मचारी उनसे काँपते हैं। दफ्तर के अन्य मातहत बाबुओं को शर्मा साहब का सम्मान करना पड़ता है, वे शर्मा साहब के सामने अदब से पेश आते हैं। स्थानीय बॉस शर्मा साहब का क्या भरोसा, हो सकता है वे अपने मातहतों के सामने कोई मुसीबत खड़ी कर दें। इसलिए सम्मान जरूरी है। यह स्थानीय बॉस शर्मा साहब का उच्चवर्गीय रौब है जो दफ्तर के अन्य मातहत कर्मचारियों के मन में डर के रूप में जमा बैठा है। इन्हीं शर्मा साहब को अपनी तरक्की करवानी है और तरक्की अपने से ऊँचे पद वाले व्यक्ति की खुशामद किये बग़ैर, उसे प्रसन्न किए बग़ैर संभव नहीं है, इसलिए वे एक पार्टी का आयोजन करते हैं और बड़े साहब को दिल्ली से बुलाते हैं। 'साहब' का सम्मान करने में वे कोई कोर–कसर नहीं छोड़ते। जिस तरीके से भी संभव है, शर्मा साहब बड़े साहब की हर तरह से खुशामद करते हैं। शर्मा साहब की इस खुशामदी मनोवृत्ति में उनकी निम्नवर्गीय दीनता छिपी हुई है। हर छोटे साहब की तुलना में बड़े साहब का अपना ही रौब होता है। इस रौब की अभिव्यक्ति के ढेरों रूप होते हैं। यह रौब कहीं तो मध्यवर्गीय व्यक्ति की आक्रामक और दादागिरी से भरी हुई वाणी में अभिव्यक्त होता है, तो कहीं अपने मातहत के चापलूसी से भरे हुए आचरण में। बड़े साहब का अपना ही रुतबा और रौब होता है। परसाई जी लिखते हैं– "बड़ा साहब 'स्टीम रोलर' होता है, जो डिपार्टमेंट के बड़े–छोटे का भेदभाव मिटा देता है। सब समतल हो जाते हैं, क्योंकि सब डरे हुए होते हैं। डर भेद मिटा देता है।"[5] यानी जिस शर्मा साहब का उच्चवर्गीय अहंकार अपने मातहतों के सामने उभर आता था, उन शर्मा साहब की दिल्ली से आने वाले 'बड़े साहब' के सामने कोई हैसियत नहीं है। मध्यवर्ग से सम्बद्ध हर कर्मचारी/अधिकारी का व्यवहार अपने से बड़े (पद के मामले में) कर्मचारी/अधिकारी के सामने निम्नवर्गीय दीनता लिए होता है। मध्यवर्ग के चरित्र के उस पहलू को हरिशंकर परसाई की 'यस सर'[6] नामक लघु व्यंग्य रचना में देखा जा सकता है, जिसमें बताया गया है कि मंत्री महोदय बड़े अधिकारी को एक अनुपालना का आदेश देते हैं। बड़े अधिकारी अपने से छोटे अधिकारी को इस अनुपालना की जिम्मेदारी सौंप देते हैं और छोटा अधिकारी 'यस सर' कहकर उस जिम्मेदारी को ले लेता हैं। ठीक यही क्रम नीचे तक चलता रहता है और 'यस सर'

–'यस सर' होता रहता है। इस 'यस सर' में बड़े अधिकारी के सामने छोटे अधिकारी के अदब के साथ पेश आने, लघुपन और दबने का भाव निहित है।

मध्यवर्ग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग बुद्धिजीवी वर्ग है। वह समाज के लिए कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। असल में यह बौद्धिक लोगों का समुदाय है जो किसी समस्या–विशेष पर निरंतर चिंतन करने का कार्य करता है। उसका यह चिंतन भाषणों एवं पत्र–पत्रिकाओं में लेखों के रूप में प्रस्तुत होता है। सचेत पाठक वर्ग इससे लाभान्वित होता है। पुस्तकों के रूप में भी बौद्धिक वर्ग का चिंतन पाठकों के सामने आता है। दुनियाँ का कोई भी समाज समस्यारहित नहीं है। हर समाज में ढेरों समस्याएँ होती हैं। समस्याएँ विविध प्रकार की होती हैं– सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और संस्कृति संबंधी। ये समस्याएं केवल समकालीन नहीं होतीं, बहुत पहले की भी होती हैं। इन समस्याओं को मोटे रूप में दो कालों में पैदा हुई समस्याओं के रूप में देखा जा सकता है – प्राक् आधुनिक समाज की समस्याएँ और आधुनिक काल में पैदा हुई समस्याएँ। भारत में प्राक् आधुनिक समाज की सबसे जटिल समस्या के तौर पर जाति व्यवस्था और स्त्री–पराधीनता को लिया जा सकता है, वही दूसरी और पूँजीवाद के कारण आधुनिक समाज में ढेरों समस्याएँ भी पैदा हुई हैं। ये समस्याएँ समाज की प्रगति में बाधक हैं। समाज या उसकी समस्याओं की सुस्पष्ट समझ केवल बुद्धिजीवी वर्ग के पास होती है, हालाँकि दो बुद्धिजीवियों में किसी समस्या विशेष पर वैचारिक असहमति हो सकती हैं और होती भी हैं, फिर भी उनके विचारों का अपना महत्व है। बुद्धिजीवी को इस बात का पता होता है कि समाज में कौन–कौन सी समस्याएँ हैं, कौन सी समस्या ज्यादा जटिल हैं और कौनसी कम, समस्याएँ समाज को किस तरह जड़ बनाए हुए हैं, समस्याएँ समाज में कौन पैदा करता है और किस तरह पैदा करता है, समस्याओं के दुष्परिणाम क्या हो सकते हैं और इन समस्याओं को कैसे समाप्त किया जा सकता है। इस प्रकार बुद्धिजीवी वर्ग के पास समाज की स्पष्ट और गहरी समझ होती है और इस तरह का कार्य करके वह समाज के प्रति अपने जिम्मेदार होने का सबूत पेश करता है। पर इस संबंध में एक सवाल यह उठता है कि कितने बुद्धिजीवी ऐसे होते हैं जो अपनी इस जिम्मेदारी का पालन करते हैं और जो अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता जाहिर करते हैं। जाहिर सी बात है कि सारे बुद्धिजीवी एक जैसे नहीं होते हैं, इनमें बहुत से ऐसे हैं जिनको समाज से कोई लेना देना नहीं है। उनके लिए व्यक्तिगत हित ही महत्वपूर्ण होते हैं। इसे दूसरे शब्दों में स्वार्थपरता कहा जा सकता है। ऐसे बुद्धिजीवी जब समाज की बात करते हैं तो उनके लिए समाज का मतलब एक खास तबके मात्र से होता है। ऐसे बुद्धिजीवी किसी चीज का मूल्यांकन विशुद्ध मध्यवर्गीय दृष्टिकोण से करते हैं। उनके द्वारा इस्तेमाल किए गए 'समाज' शब्द में समाज के निम्नवर्ग की व्याप्ति नहीं होती है। आज के समय में ऐसे बुद्धिजीवियों की

पहचान बड़ी सहजता से की जा सकती है। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री अरुण कुमार ऐसे बुद्धिजीवियों को 'बिके हुए' बुद्धिजीवियों की संज्ञा देते हैं।[7]

अब देखना यह है कि हरिशंकर परसाई के व्यंग्य–साहित्य में बुद्धिजीवी वर्ग का कैसा रूप उभर कर आया है, वह क्या सोचता है, उसकी गतिविधियाँ कैसी हैं और साथ ही यह भी कि उसका चरित्र कैसा है। बुद्धिजीवी को लेकर लिखा गया हरिशंकर परसाई का एक महत्वपूर्ण व्यंग्य है– 'बुद्धिवादी'। यह एक बुद्धिजीवी के पाखण्डपूर्ण आचरण को केन्द्र में रखकर लिखा गया व्यंग्य है। 'बुद्धिवादी' व्यक्ति एक अध्यापक हैं जिनकी "आमदनी दो–ढाई हजार की है। बंगला है, कार है। दोनों लड़के अच्छी नौकरी पा गये हैं। लड़की रिसर्च कर रही है।"[8] यह बुद्धिवादी का मध्यवर्गीय आधार है। वे उच्च मध्यवर्गीय व्यक्ति हैं। पूँजीवाद, साम्यवाद, मार्क्सवाद, फ्रॉयड, आइन्सटीन, विवेकानंद और कन्फ्युसियस पर बात कर लेते हैं और अपने सामने वाले व्यक्ति से हिन्दी में बातचीत करते हुए अंग्रेजी वाक्यों का धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं। ऐसा कर वे अपने सामने वाले व्यक्ति को स्वयं के बुद्धिवादी होने का अहसास कराते हैं। बुद्धिजीवी इस बात के प्रति पूरी तरह सचेत है कि सामने वाला व्यक्ति उसे एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति माने, एक विशिष्ट व्यक्ति माने। वह कतई नहीं चाहता कि लोग उसे साधारण व्यक्ति समझें। साधारण आदमी समझे जाने से उसकी 'विशिष्टता' नहीं रह जाएगी। इसलिए वह बार–बार अपने विशिष्ट होने का बोध कराता है। जब कोई व्यक्ति उनसे मिलने जाता, तो उन्हें बुद्धिवादी की टेबिल पर पाँच–छः किताबें पड़ी मिलतीं। बुद्धिवादी ने उन्हें इस तरतीबी से रखा कि किसी किताब का नाम दब न जाए। आगे परसाई जी लिखते हैं– "बुद्धिजीवी बार–बार किताबों की तरफ हमारा ध्यान खींचने की कोशिश करता है, हम चकित हों और कहें– कितनी तरह की पुस्तकें पढ़ते हैं आप! इनके तो हमने नाम भी नहीं सुने। हम चकित होने में देर कर रहे हैं। बुद्धिवादी थोड़ा बेचैन होता है।"[9] यहाँ देखा जा सकता है कि कैसे एक बुद्धिजीवी दूसरों की नजर में अपने को विशिष्ट बनाने और मनमाने का उपक्रम कर रहा है। लगता है जैसे संसार में उसके लिए यही एक मात्र काम रह गया है। बुद्धिजीवी की इस मानसिकता का उच्चतम रूप इस उद्धरण की अंतिम पंक्ति में उभर कर आता है तब, जब वह सामने वाले व्यक्तियों को आश्चर्यचकित न कर सका और बेचैन हो जाता है। यह उच्च कोटि की मध्यवर्गीय लालसा है। यह विशिष्टता–प्रेमी लोगों का वर्ग है। अपनी बहुलता में मध्यवर्ग विशिष्टता ही खाता है, विशिष्टता ही पहनता है, विशिष्टता ही ओढ़ता है और विशिष्टता में ही रहता है। जैसे – इस वर्ग की मूलभूत आवश्यकताओं में से एक यह विशिष्टता भी है। बुद्धिवादी का विशिष्टता प्रेम उसके चेहरे से भी झलकता है। यह उद्धरण देखिए जो थोड़ा बड़ा ही सही, पर है बड़ा रोचक– "मुद्रा में स्थायी खिन्नता। खिन्नता दुखदायी होती है। मगर उसके चेहरे पर सुखदायी खिन्नता थी। खिन्नता दुनिया की दुर्दशा पर

थी। उसमें सुख का भाव इस गर्व से मिला दिया गया था कि मैंने उस दुर्दशा को देख लिया। बायीं तरफ का नीचे का होठ कान की तरफ थोड़ा सा खिंच गया था, जिससे दोनों होठों के बीच थोड़ी जगह हो गई थी। स्थायी खिन्नता व लगातार चिंतन से ऐसा हो गया था। पूरे मुँह में वहीं एक छोटी सी सेंध थी, जिसमें से उनकी वाणी निकलती थी। बाकी मुँह बन्द रहता था। हम पूरे मुँह से बोलते हैं, मगर बुद्धिवादी मुँह के बायें कोने को जरा–सा खोलकर गिनकर शब्द बाहर निकालता है। हम पूरा मुँह खोलकर हँसते हैं, बुद्धिवादी बायीं तरफ के होठों को थोड़ा सा खींचकर नाक की तरफ ले जाता है। होंठ के पास के नथुने में थोड़ी हलचल पैदा होती है और हम पर कृपा के साथ यह संकेत मिलता है कि– आई एम एम्यूड! तुम हँस रहे हो, मगर मैं सिर्फ थोड़ा मनोरंजन अनुभव कर रहा हूँ। गँवार हँसता है, बुद्धिवादी सिर्फ रंजित हो जाता है।"[10] इसके साथ एक अन्य उदाहरण और देखना चाहिए –"बुद्धिवादी में लय है। सिर घुमाने में लय है, हथेली जमाने में लय है, उठने में लय है, कदम उठाने में लय है, अलमारी खोलने में लय है, किताब निकालने में लय है, किताब के पन्ने पलटने में लय है। हर हलचल धीमी है।"[11] इन दोनों उद्धरणों में बुद्धिवादी का शारीरिक क्रिया–व्यापार प्रस्तुत हुआ है। यह दिखावटी शारीरिक क्रिया–व्यापार है जो बुद्धिवादी द्वारा सचेत रूप से किया जा रहा है। वह अपना एक अलग ही रूप लोगों के सामने प्रस्तुत करने की लालसा पाले हुए है और उसे अंजाम भी दे रहा है। इस शारीरिक क्रिया व्यापार में सहजता और स्वाभाविकता बिल्कुल नहीं है, इसमें है केवल और केवल दिखावटी क्रिया व्यापार, जो जबरदस्ती ओढ़ा गया है। जीवन के कुछ क्षेत्रों में उसका सौंदर्यबोध, उसकी सोच एकदम अलग है। वह ठहाके के साथ हँसने को ही नहीं, अपितु उससे कम ध्वनि पैदा करने वाले हँसी के रूप को भी फूहड़ मानता है, इसलिए वह केवल मुस्कराने को महत्ता देता है। वह अपनी हर गतिविधि को कुछ इस तरह 'प्रजेंट' करता है ताकि वह अन्य का ध्यान खींच सके। ऐसी मानसिकता उच्च मध्यवर्गीय बुद्धिवादी की ही नहीं, अपितु उच्च मध्यवर्ग मात्र की है। अपनी जिंदगी में यह नकलीपन खींच ले आना, मध्यवर्ग के बहुलांश की पहचान है। सचमुच में इस बुद्धिवादी को "कोण से बुद्धिवाद साधने की कला सीखने में कितना अभ्यास लगा होगा।"[12]

बुद्धिजीवी की मानसिकता और चरित्र के कुछ अन्य पहलुओं को परसाई जी के 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' व्यंग्य में देखा जा सकता है। बुद्धिजीवी का विशिष्टता–प्रेम इस व्यंग्य में साफ उजागर हुआ है। 'बुद्धिवादी' व्यंग्य के बुद्धिजीवी का भी विशिष्टता के प्रति आग्रह है और 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' व्यंग्य के बुद्धिजीवी का भी। दोनों व्यंग्यों के बुद्धिजीवियों के विशिष्टता प्रेम में थोड़ा अन्तर भी है। एक मध्यवर्गीय व्यक्ति, विशिष्टता प्रेम को ध्वनित करने वाली दो अलग–अलग स्थितियों में एक जैसा आचरण नहीं करेगा। उसके आचरण में, उसकी मानसिकता में थोड़ा बहुत भिन्नता भी होगी। इस

बुद्धिजीवी का 'स्टेटस' 'बुद्धिवादी' व्यंग्य के बुद्धिजीवी के 'स्टेटस' जैसा नहीं है। 'बुद्धिवादी' उच्च मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी था और यह बुद्धिजीवी निम्न मध्यवर्गीय। इस बुद्धिजीवी की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। प्रमाण के लिए यह उद्धरण देखिए– "उसे पहले दर्जे का किराया दे दो, ताकि वह तीसरे में सफर करके पैसा बचा ले।"[13] इससे उसकी साधारण आर्थिक स्थिति का पता लगाया जा सकता है। इस बुद्धिजीवी की आर्थिक स्थिति चिंताजनक है। वह तीसरे दर्जे में सफर करके किसी विश्वविद्यालय में भाषण देने के लिए जाता है। उसे इस बात का पता है कि कुछ लोग उसका स्वागत करने के लिए स्टेशन पर खड़े मिलेंगे। ये स्वागत करने वाले लोग भी निश्चित तौर पर उसी विश्वविद्यालय के होंगे, जिसमें बुद्धिजीवी भाषण देने के लिए जा रहे हैं। जाहिर सी बात है कि ये स्वागतकर्त्ता भी विश्वविद्यालय के मध्यवर्गीय व्यक्ति ही होंगे। ऐसे लोगों के सामने एक बुद्धिजीवी तीसरे दर्जे से उतरे, कितने शर्म की बात है। अगर ऐसा हुआ, तो इससे स्वागतकर्त्ताओं की प्रतिष्ठा को बट्टा लग जाएगा। व्यंग्य नायक 'मैं' इस बात को अच्छी तरह से जानता है। वह उनकी इस मानसिकता से परिचित है कि उनकी तीव्र लालसा क्या है, इसलिए 'मैं' उन्हें शर्म से बचाने के लिए क्या करता है कि "उस शहर से बीस मील इधर के स्टेशन से मैं तीसरे से पहले दर्जे में आ गया था, जिससे मेजबानों को बुद्धिजीवी को तीसरे दर्जे से उतारने की शर्म न झेलनी पड़े। मैं दरवाजे पर हैण्डिल पकड़े तब तक खड़ा रहा, जब तक उन्होंने मुझे देख नहीं लिया।"[14] ये लोग कौन हैं जिनकी बुद्धिजीवी इतनी ज्यादा 'चिंता' कर रहा है। ये लोग कोई और नहीं, मध्यवर्गीय ही हैं। ये भी उसी मध्यवर्गीय मानसिकता से संचालित हैं, जिससे बुद्धिजीवी संचालित है। इनके लिए भी 'इमेज', प्रतिष्ठा–अपनी मूलभूत आवश्यकताओं से बढ़कर होती है। व्यंग्य नायक 'मैं' की नजर में पहले ऐसा हो चुका है कि "स्वागतकर्ता मुझे पहले दर्जे में तलाश कर रहे हैं और मैं चुपचाप तीसरे दर्जे से उतरकर उनका इंतजार कर रहा हूँ। जब वे मिलते हैं, तो दोनों पार्टियों को शर्म महसूस होती है। वे सोचते हैं, किस थर्ड क्लासिये को बुला लिया।"[15] पर क्या तीसरे दर्जे से उतरने पर शर्म केवल उन स्वागतकर्ताओं को ही आएगी, बुद्धिजीवी को नहीं? ऐसा बिल्कुल नहीं है। बुद्धिजीवी भी इस बीमारी से पीड़ित है। उसके लिए भी 'इमेज', प्रतिष्ठा बहुत महत्त्वपूर्ण चीज़ है। ऐसा भी नहीं है कि बुद्धिजीवी तीसरे दर्जे से पहले दर्जे में इसलिए चला गया हो कि उसे स्वागतकर्ताओं की चिंता है। सच तो यह है कि ऐसा न करने से बुद्धिजीवी की प्रतिष्ठा को बट्टा लग जाएगा। बुद्धिजीवी इस मामले में बहुत सचेत है। वह श्रद्धेय है, पर श्रद्धेय है तो क्या हुआ– "श्रद्धेय के भी दर्जे होते हैं। तीसरे दर्जे का श्रद्धेय प्रेरणा नहीं देता। वह शर्म देता है।"[16] लोग क्या कहेंगे, क्या समझेंगे कि 'किस थर्ड क्लासिए को बुला दिया।' यह अहसास एक मध्यवर्गीय व्यक्ति को काफी पीड़ित करता है और एक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी को तो और भी ज्यादा। यह

अहसास उसमें हीनता बोध पैदा कर सकता है। यही कारण है कि बुद्धिजीवी तीसरे दर्जे से खिसक कर पहले दर्जे में आ जाता है। इस बुद्धिजीवी की तीव्र लालसा है कि लोग उसे साधारण व्यक्ति की बजाय विशिष्ट व्यक्ति के तौर पर जानें। पर इतना कह देने भर से पूरी बात उभरकर सामने नहीं आती कि एक मध्यवर्गीय व्यक्ति अपने विशिष्ट होने पर बहुत जोर देता है। असल जो बात है, वो यह कि एक मध्यवर्गीय व्यक्ति अपने को उन सारे कार्यों, उन सारी प्रवृत्तियों या स्थितियों से दूर रखने की कोशिश करता है जिनसे जुड़ने पर उसकी निम्नवर्गीय साधारणता का बोध हो। तब जाकर ही तो एक मध्यवर्गीय व्यक्ति 'विशिष्ट' बन पायेगा, अन्यथा कैसे बनेगा। यह मध्यवर्गीय चेतना है। मध्यवर्ग में यह चेतना भारत में उसके उदय के समय से ही रही है, पर आज यह जितनी सुस्पष्ट है उतनी पहले नहीं थी। आज यह प्रवृत्ति समाज में व्यापक स्तर पर देखी जा सकती है। यह मध्यवर्गीय चेतना उच्च मध्यवर्ग से लेकर निम्न मध्यवर्ग (आज तमाम अर्थशास्त्री और समाजशास्त्री मध्यवर्ग के तीन भेद स्वीकार करते हैं– उच्च मध्यवर्ग, मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग) तक में पाई जाती है। हालाँकि निम्न मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति मध्यवर्ग के अन्य दो हिस्सों की तुलना में निम्न होती है, फिर भी मध्यवर्गीय संस्कृति इस वैभिन्य पर काफी हद तक परदा डाल देती है, पर अन्तर मिटा नहीं देती। 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' बुद्धिजीवी, जो एक तरफ तो लोगों को अपनी अभिजात्यता का बोध कराना चाह रहे हैं, लेकिन दूसरी तरफ उनकी आर्थिक स्थिति कुछ और ही बयान कर रही है। वे भाषण देने के बाद घर लौटते हैं तो तीसरे दर्जे में ही बैठकर, पर इसके लिए ग़जब का तर्क देते हैं– "लौटते में मैं तीसरे दर्जे में यह कहकर बैठ जाता हूँ कि पहला दर्जा रात को असुरक्षित रहता है।" इसके तुरंत बाद टिप्पणी आती है–"यह बुद्धिजीवी की मिश्रित अर्थव्यवस्था है, जो देश की मिश्रित अर्थव्यवस्था के अनुरूप ही है। देश के प्रति बुद्धिजीवी बहुत जागरूक हैं। वह पहले दर्जे से उतरता और तीसरे में चढ़ता है।"[17] यहाँ 'बुद्धिजीवी की मिश्रित अर्थव्यवस्था' से तात्पर्य उसकी उस पाखण्डी और दंभी मानसिकता से है जो उसके इस आचरण में अभिव्यक्त हो रही है कि कैसे वह तीसरे दर्जे में चढ़ता है और पहले दर्जे से उतरता है। यहाँ बुद्धिजीवी का, होने की बजाय दिखने पर ज्यादा जोर है।

बुद्धिजीवी संवेदनशील व्यक्ति होता है। वह चीज़ों को महसूस करता है। वैसे तो हर व्यक्ति संवेदनशील होता है, लेकिन दोनों की संवेदना एक नहीं होती है। संवेदना के साथ अनिवार्य रूप में यह जुड़ा है कि महसूस करने के बाद व्यक्ति देश और समाज के बारे में क्या निष्कर्ष निकालता है। बुद्धिजीवी के पास व्यापक और गहरा अध्ययन होता है, साथ ही वैज्ञानिक समाज–बोध और इतिहास बोध भी। इससे वह समाज को वस्तुगत रूप में समझने की कोशिश करता है। वह अपने युग के गहरे में प्रवेश करता है और पता लगाता है कि कोई स्थिति ऐसी है, तो क्यों है। इन्हीं संदर्भों से पता चलता

है कि बुद्धिजीवी की संवेदनशीलता सामान्य व्यक्ति की संवेदनशीलता से विशिष्ट होती है, पर हरेक बुद्धिजीवी को यह महत्ता प्रदान नहीं की जा सकती है। कुछ बुद्धिजीवी ऐसे होते हैं जिन्हें सामान्य व्यक्ति की तुलना में विशिष्ट कहने से बड़ा डर लगता है। ऐसे बुद्धिजीवी केवल नाम के बुद्धिजीवी हैं और इनके पास सड़ा हुआ समाज बोध होता है और सड़ा हुआ ही इतिहास बोध भी। वे बुद्धिजीवी और ही होते हैं जो युग की विकलांगता को पहचानते हैं। ऐसे बुद्धिजीवियों की विशिष्ट संवेदनशीलता का यह उदाहरण देखिए– "चिपके का क्या भरोसा! पच्चीस सालों से क्या–क्या नहीं चिपका है इस देश में! संविधान के निर्देशक सिद्धांत चिपके हैं। पर अमल नहीं। चिपका है गाँधीजी का वाक्य –'स्वराज्य में हर आँख का आँसू पोंछा जाएगा।' मगर यह तय नहीं हो पा रहा कि रुला कौन रहे हैं। पचपन करोड़ के हाथों में एक–एक रुमाल दे दिया गया है कि लो, एक दूसरे के स्वराज्य के आँसू पोंछो। चिपके कागज का क्या भरोसा! समाजवादी ढंग का नारा चिपका था। पर काम सब बेढंगा हो रहा था। फिर 'जनतांत्रिक समाजवादी' चिपक गया। फिर 'समाजवाद' चिपका। अब 'गरीबी हटाओ' चिपका है। मगर कीमतें बढ़ रही है। चिपके कागज का कोई भरोसा नहीं रह गया।"[18] इस उद्धरण में 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' बुद्धिजीवी की समाज की जो समझ है, उसे देखा जा सकता है। यह बुद्धिजीवी के चरित्र का एक सकारात्मक पहलू है। हरिशंकर परसाई ने अपने इस व्यंग्य में एक ही पात्र 'मैं' की सृष्टि कर बुद्धिजीवी के चरित्र के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलुओं को उघाड़ा है।

परसाई ने बुद्धिजीवी के चरित्र के अन्य नकारात्मक पहलुओं को भी अपने व्यंग्यों में जगह दी है। उनकी दृष्टि में बुद्धिजीवी को समाज के प्रति जिम्मेदार होना चाहिए। वे मानते थे कि ऐसे भी बुद्धिजीवी हैं जो समाज के प्रति जिम्मेदार हैं और अपनी जिम्मेदारियों का पालन भी करते हैं, पर ऐसे बुद्धिजीवियों की संख्या कम ही है। इस संदर्भ में ऐसे बुद्धिजीवियों के चरित्र में कोई अंतर्विरोध नहीं होता। ढेरों ऐसे बुद्धिजीवी हैं, जिनके चरित्र में जबरदस्त अन्तर्विरोध हैं। ऐसे बुद्धिजीवी समाज में अपने नैतिक और पवित्र होने का ढोल पीटते हैं, पर इनकी वास्तविकता कुछ और ही है। वे जो बोल रहे हैं उसके ठीक विपरीत काम भी कर रहे हैं। प्रसंग है साहित्य की एक मशहूर संस्था का, जिसके सदस्य कुछ बुद्धिजीवी हैं। इस संस्था के सामने एक सिनेमा भवन खुलने से ये परेशान हैं क्योंकि इससे संस्था का वातावरण दूषित होगा। स्वयं इस संस्था में ही भ्रष्टाचार व्याप्त है, इस भ्रष्टाचार में वे बुद्धिजीवी शामिल हैं जो संस्था के उच्च पदों पर बैठे हुए हैं और फिर भी सिनेमा के खुलने का विरोध कर अपने को पवित्र बनाए हुए हैं। ये वे बुद्धिजीवी हैं जिनके लिए पैसा बहुत महत्त्वपूर्ण है, इतना महत्त्वपूर्ण है कि अगर उनके सामने पैसे रख दिये जायें तो उनकी लेखनी किसी भी हद तक गिर सकती है। वह खुशामद कर सकती है और किसी दूसरे व्यक्ति से ज्यादा पैसा मिल

जाए तो उसका विरोध भी कर सकती है जिसकी वह पहले खुशामद कर रही थी। 'पवित्रता का दौरा' व्यंग्य में परसाई जी लिखते हैं–"सोचता हूँ, हम कहाँ के पवित्र हैं। हममें से अधिकांश ने अपनी लेखनी को रंडी बना दिया है, जो पैसे के लिए किसी के साथ भी सो जाती है। सत्ता इस लेखनी से बलात्कार कर लेती है और हम रिपोर्ट तक नहीं करते। कितने नीचों की तारीफ मैंने नहीं लिखी। कितने मिथ्या का प्रचार नहीं किया। अख़बारों के मालिकों का रुख देखकर मेरे सत्य ने रूप बदले हैं। मुझसे सिनेमा के चाहे जैसे डायलॉग कोई लिखा ले। मैं इसी कलम से बलात्कार की प्रशंसा में भी फिल्मी गीत लिख सकता हूँ और भगवद भजन भी लिख सकता हूँ। मुझसे आज पैसे देकर मजदूर–विरोधी अखबार का सम्पादन करा लो और कल मैं उससे ज्यादा पैसे लेकर ट्रेड यूनियन के अखबार का सम्पादन कर दूँ। इसी कलम से तो मैंने पहले 'इन्दिरा गाँधी जिंदाबाद' लिखा था, फिर 'इन्दिरा गाँधी मुर्दाबाद' लिखा, और अब फिर 'इन्दिरा भारत है' लिख रहा हूँ।"[19] यह है परसाई की दृष्टि में अधिकांश बुद्धिजीवियों का चरित्र। ये वे बुद्धिजीवी हैं जो ऊपर–ऊपर से कुछ और नजर आते हैं और अन्दर से उनकी कुछ और ही वास्तविकता प्रकट हो रही है। जिससे लाभ हो रहा है, उससे अपने–आपको जोड़ लिया और जिससे लाभ नहीं हो रहा है, उससे अपने–आपको अलग कर लिया। लगता है जैसे इनका अपना काई चरित्र (सकारात्मक अर्थ में) ही नहीं रह गया है। सवाल ये है कि जिंदगी जीने के लिए पैसे की किसे आवश्यकता नहीं होती अर्थात सबको होती है। पैसे के बग़ैर पेट–पालन किसी भी तरह संभव नहीं है। जीवित रहना है तो पैसे की आवश्यकता तो होगी ही, पर क्या पैसे के लिए इस तरह जल्दी–जल्दी अपना रूप बदलने की आवश्यकता है। इतना जल्द तो गिरगिट भी अपना रंग नहीं बदलता, जितना जल्द बुद्धिजीवी बदल रहा है। यह बुद्धिजीवी के चरित्र की अस्थिरता है। यह उसका अवसरवाद भी है। बुद्धिजीवी का यह अवसरवाद परसाई के एक अन्य व्यंग्य 'जिंदगी और मौत का दस्तावेज' में भी उभरा है। वहाँ भी उसका गिरगिटी चरित्र उभरा है–"सम्पादकों ने कभी कहा था– इमरजेंसी है तो डरो। मैं डरा। फिर कहा– इमरजेंसी की तारीफ में लिखो, मैंने लिखा। इमरजेंसी उठी तो कहा– इमरजेंसी के खिलाफ लिखों। मैंने इमरजेंसी के खिलाफ लिखा, ईमान से लिखा। साथ ही घोषणा भी की, कि मैं एक मात्र बहादुर बुद्धिजीवी हूँ। बाकी सब कायर है। शेर कोई दूसरा मारे, उसकी दुम मैं काट लेता हूँ। यानी मैं प्रतिनिधि बुद्धिजीवी हूँ।"[20] यहाँ बुद्धिजीवी की दंभी मानसिकता साफ है। खतरे उठाकर महत्त्वपूर्ण काम कोई और करे, और उसका श्रेय बुद्धिजीवी लूट ले जाता है। ऊपर से तुर्रा ये कि 'मैं एकमात्र बहादुर बुद्धिजीवी हूँ।' वह अपने–आपको 'प्रतिनिधि बुद्धिजीवी' भी मानता है जबकि कर्म ये कर रहा है कि कभी तो वह 'इमरजेंसी' से डरता है, कभी उसका समर्थन करता है और कभी उसका विरोध, और विरोध भी करता है तो तब, जब 'इमरजेंसी' खत्म हो गई है।

यानी वह कायर भी है, सत्ता से डरता है और उसमें इतना साहस नहीं है कि वह सत्ता के सामने सच रख दे। इस संबंध में सबसे बड़ी बात तो यह है कि बुद्धिजीवी का अपना कोई 'स्टैंड' ही नहीं है। उसमें इतना साहस नहीं है कि वह यह कह दे कि फलाँ समस्या पर हमारा यह मानना है, हमारा ये 'स्टैंड' है। ऐसे बुद्धिजीवियों का भी भला कोई 'स्टैंड' होता है, जो तीन तरह की बातें कर रहे हों– शुरुआत में कुछ, बाद में कुछ और उसके बाद कुछ और ही। और ये अखबार के सम्पादक कौन होते हैं, ये भी बुद्धिवादी वर्ग के ही हैं। सम्पादक का 'स्टैंड' और उसका चरित्र दोनों इस उपर्युक्त उद्धरण में देखे जा सकते हैं। यह अधिकांश बुद्धिजीवियों का लचीलापन है जिसे उन्होंने अपनी मानसिकता में, अपनी जिंदगी में ठूँस–ठूँस कर भर लिया है।

इस सम्बंध में एक सवाल उठता है, वह यह कि बुद्धिजीवी के इस लचीलेपन का कारण क्या है? कहीं ऐसा तो नहीं कि किसी ने उन्हें (बुद्धिजीवियों) पैसा देकर खरीद लिया हो, हो भी सकता है। परसाई तो बुद्धिजीवी के लचीलेपन का यही कारण मानते हैं। उन्होंने अपने व्यंग्य 'जिन्दगी और मौत का दस्तावेज' में व्यंग्यात्मक तेवर के साथ लिखा है कि "बुद्धिजीवी वह होता है जो किसी सत्ता या दाता के हरम की रक्षा करें।"[21] सत्ता के हरम की रक्षा बुद्धिजीवी किस प्रकार करते है? जबाव दिया जा सकता है– उसका विरोध न करके। शासक वर्ग के पास सत्ता है, ताकत है, पूरी नौकरशाही उसके अधीन है। इस प्रकार सत्ता ताकतवर है और जो ताकतवर है, उसका विरोध नहीं किया जा सकता है। विरोध करने पर शासक वर्ग कुछ भी कर सकता है, कुछ भी बिगाड़ सकता है। इससे बुद्धिजीवी को डर लगता है। वह विरोध नहीं करेगा और जब शासक वर्ग पर अँगुली नहीं उठेगी, तो उसे कोई नुकसान भी नहीं होगा और जब नुकसान की कोई संभावना नहीं होगी तो सत्ता के हरम की अपने आप रक्षा हो जाएगी। इस प्रकार बुद्धिजीवी सत्ता के हरम की रक्षा करता है। उपर्युक्त उद्धरण के अनुसार वह सत्ता के ही हरम की रक्षा नहीं करता है, दाता के हरम की भी रक्षा करता है। यह 'दाता' कौन है? यह 'दाता' शासक वर्ग हो सकता है और देश का पूँजीपति वर्ग भी। शासक वर्ग तथा पूँजीपति वर्ग में कोई बहुत बड़ा अंतर नहीं होता। इसी अध्याय के उद्धरण 19 में बताया जा चुका है कि अधिकांश बुद्धिजीवी 'अपनी लेखनी को रंडी' बना चुके हैं और जो 'पैसे के लिए किसी के भी साथ सो जाती है।' इन सारी चीज़ों से अधिकांश बुद्धिजीवियों के प्रतिक्रियावादी चरित्र का भी पता चलता है। बुद्धिजीवी का यह प्रतिक्रियावादी चरित्र परसाई के 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' व्यंग्य में भी आया है। उन्होंने लिखा है कि "पिछले दो वर्षों से कहा जा रहा है कि देश में क्रांति हो रही है। बुद्धिजीवी इसे समझे और इस प्रक्रिया में सहयोगी बनें। बुद्धिजीवी को क्रांति बात करने में क्या लगता है। वह सारा गुस्सा सरकार पर उतार देता है। इससे वाहवाही मिलती है, लोकप्रिय होता है– मगर वह छद्म क्रांतिकारिता है। ऐसा लेखक सरकार पर

नाटकीय हमले करके सारी क्रांतिविरोधी बुजुर्आ ताकतों को बचा ले जाता है। इस तरह वह बुर्जुआ समर्थक हो जाता है।"[22] यह है बुद्धिजीवी का प्रतिक्रियावादी रूप। यहाँ बुद्धिजीवी के छद्म रूप को भी देखा जा सकता है। यह छद्म रूप है उसकी "क्रांतिकारिता" का। उद्धरण के ही अनुसार क्रांति की बात चल रही है और इसमें सहयोगी होने की उनसे अपेक्षा की जा रही है। वे सहयोगी बनते भी हैं, पर किस स्तर पर– चिंतन, मनन और लेखन स्तर पर। क्रांति या किसी भी तरह के आंदोलन में उनकी सक्रिय भागीदारी होनी चाहिए, जिसका उनके यहाँ अभाव है। अधिकांश बुद्धिजीवियों की यह स्थिति है। वे केवल लेख लिखकर 'क्रांति–विरोधी बुजुर्आ ताकतों' का विरोध करते हैं। परसाई जी बखूबी जानते हैं कि इसकी महत्ता है, पर एक सीमा तक। उसके आगे लेखन की महत्ता इतनी अधिक नहीं रह जाती है। इसे परसाई जी बुद्धिजीवी का 'नाटकीय हमला' मात्र मानते हैं जो 'क्रांतिविरोधी बुजुर्आ ताकतों' के खिलाफ है। इन 'ताकतों' में शासक वर्ग भी आता है और पूँजीपति वर्ग भी। इस उद्धरण में परसाई की जो आक्रामकता नजर आ रही है उसका मूल कारण है– लेख लिखकर विरोध दर्ज कराने की एक सीमा होना और लेखन मात्र से 'ताकतों' का कुछ न बिगड़ना। 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' व्यंग्य में परसाई जी लिखते हैं– "पहले दर्जे का किराया और पेट में मुर्गा बुद्धिजीवी को क्रांतिकारी बना देता है। मुर्गा दिन में सबसे पहले क्रांति की बाँग देता है और फिर घूड़े पर दाने बीनने लगता है। भारतीय बुद्धिजीवी का भी यही हाल है।"[23] यहाँ बुद्धिजीवी के 'हाल' को मुर्गे के रूपक द्वारा प्रस्तुत किया गया है। बुद्धिजीवी की 'छद्म क्रांतिकारिता' का यह और ज्यादा विकसित रूप है। मुर्गे की तरह ही बुद्धिजीवी भी क्रांति की बाँग देता है। क्रांति की यह बाँग किस प्रकार दी जाती है? क्रांति की यह बाँग दी जाती है– लेख लिखकर और उसमें सामाजिक परिवर्तन की बात कर। अधिकांश बुद्धिजीवी ऐसा करते हैं। क्रांति की बाँग देकर मुर्गा घूड़े पर दाने बीनने लग जाता है और बुद्धिजीवी 'क्रांति की बाँग' देकर अपने काम में लग जाता है। फिर बुद्धिजीवी भी क्रांति की बात उसी तरह भूल जाता है जिस तरह मुर्गा भूल जाता है। मुर्गा एक बार बाँग देकर दिन में फिर कभी बाँग नहीं देता। यहाँ बुद्धिजीवी के चरित्र को मुर्गे की गतिविधियों के माध्यम से समझाया गया है। दोनों के चरित्र में गहरी समानता है।

बहुत से बुद्धिजीवी अपना फायदा देखकर काम करते हैं। ऐसा करना गलत भी नहीं है। गलत तब है जब वह केवल अपना फायदा देखें और यह न देखे कि उसके फायदे से किसी अन्य व्यक्ति का नुकसान तो नहीं हो रहा है। जो ऐसा न सोचे, उसके 'अच्छे चरित्र' पर शक किया जाना चाहिए। केवल अपना फायदा देखने वाला व्यक्ति विशुद्ध स्वार्थी होता है। 'भेड़ें और भेड़िये' परसाई का ऐसा ही व्यंग्य है जिसमें बुद्धिजीवी की स्वार्थपरता को उद्घाटित किया गया है। यहाँ बुद्धिजीवी सियार के रूप में पाठक

वर्ग के सामने आता है। संस्कृत के कथा साहित्य में सियार चालाक, चतुर और धूर्त के रूप में प्रस्तुत हुआ है। बाद में व्यक्ति को सियार के रूप में चित्रित किया जाने लगा। परसाई ने भी इसी अर्थ में बुद्धिजीवी को चित्रित किया है। यहाँ 'भेड़ों' से तात्पर्य जनता और 'भेड़ियों' से तात्पर्य प्रभुत्वशाली व्यक्तियों से है जिनका जनता पर दबदबा है। संदर्भ है जंगल के वन्य पशु प्रजातांत्रिक समाज और प्रजातांत्रिक सरकार की स्थापना चाहते हैं। जंगल की पूरी जनता एक जगह इकट्ठी हो गई है और उसने फैसला ले भी लिया है। भेड़िए जो अब तक भेड़ों और उनके बच्चों का 'लजीज गोश्त' खाते थे, इस फैसलें के बाद से वे अपने आपको असहाय महसूस करने लगे। वे चिंतित हो गए। निराश हो गए। अब कुछ नहीं किया जा सकता। तभी एक सियार उन भेड़ियों की खुशामद करता है और अपने कुछ सियार मित्रों को रूप बदलकर ये बताने के लिए भेड़ों में भेज देता है कि भेड़िए बुरे नहीं है, उन्होंने कभी तुम्हारा नुकसान नहीं किया। वे तुम्हारा भला चाहने वाले लोग हैं। सियार उन भेड़ियों की खुशामद इसलिए करता है क्योंकि भेड़ियों द्वारा 'लज़ीज गोश्त' खा लेने के बाद हड्डियों पर चिपका थोड़ा सा माँस उन्हें खाने को मिल जाता था। जिन सियारों को जनता के बीच भेजा जा रहा है, वे कौन–कौन हैं, यह एक बूढ़े सियार द्वारा अपने सियार मित्रों का भेड़ियों से कराये जा रहे परिचय से जाना जा सकता है– "बूढ़ा सियार बोला– ये बड़े काम के हैं। आपका सारा प्रचार तो ये ही करेंगे। इन्हीं के बल पर आप चुनाव लड़ेंगे। यह पीला वाला बड़ा विद्वान है, विचारक है, कवि है, लेखक भी। यह नीला सियार नेता और पत्रकार है और यह हरा धर्मगुरू है। बस अब चलो।"[24] इन सियारों के माध्यम से प्रभुत्वशाली व्यक्तियों (जो शासक भी हो सकते हैं) के साथ बुद्धिजीवियों के सम्बंध से उनके चरित्र के कुछ पहलुओं का पता बड़ी सहजता से लगाया जा सकता है। अब इस संबंध में अलग से कुछ बताने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस व्यंग्य में बुद्धिजीवी को सियार के रूप में चित्रित किया गया है, लेकिन अपने ही एक अन्य व्यंग्य 'कर कमल हो गए' में परसाई जी ने बुद्धिजीवी को सियार के रूप में प्रस्तुत कर सियार–व्यक्तियों के काम आने वाले व्यक्तियों के रूप में चित्रित किया है। परसाई जी अपने इस व्यंग्य में लिखते हैं– "इस देश के बुद्धिजीवी सब शेर है। पर वे सियारों की बारात में बैंड बजाते हैं।"[25] यहाँ बुद्धिजीवी के दंभी चरित्र का पता चलता है। वे लोग जो शेर होने का दंभ भरते हैं, उनकी महत्ता केवल इतनी ही है कि वे धूर्त लोगों के काम आ रहे हैं। यह उद्धरण बुद्धिजीवी के सिद्धांत और व्यवहार में अंतर को भी रेखांकित करता है। इस प्रकार बुद्धिजीवी शेर होने का चाहे जितना दंभ भरे, पर अगर वह सियारों की बारात में बैण्ड बजा रहा है तो गीदड़ ही ठहरेगा।

अपना फायदा देखकर रूख बदलने वाले व्यक्ति बुद्धिजीवी वर्ग में नहीं, अपितु मध्यवर्ग के अन्य समूहों में भी होते हैं। ऐसा करने वाले व्यक्ति घोर स्वार्थी और

अवसरवादी होते हैं। जिससे अपने स्वार्थ सधता हो, उससे चिपक जाओ और जिससे अपना कोई भी और कैसा भी स्वार्थ नहीं सधता हो, उससे किनारा कर लो, ऐसी मानसिकता के लोग मध्यवर्ग में बड़े पैमाने पर देखे जा सकते हैं। परसाई जी का एक व्यंग्य है – 'आचार्यजी, एक्सटेंशन और बागीचा'। इस व्यंग्य के आचार्यजी के पिता ऐसे ही व्यक्ति हैं। परसाई जी लिखते हैं– "आचार्यजी के पिता झर्राटेदार मूँछे रखते थे। वे अंग्रेज सरकार के नौकर थे। उनकी मूंछों की सिफ़त यह थी कि आदमी और मौका देखकर बर्ताव करती थीं। वे किसी के सामने 'आई कोंट केयर' के ठाठ की हो जातीं। फिर किसी और के सामने वे मूछों पर इस तरह हाथ फेरते थे कि वे 'आई एम सॉरी सर' हो जाती। मूँछों के इस दुहरे स्वभाव के कारण वे सफल और सुखी आदमी रहें।"[26] जिस व्यक्ति का ऐसा स्वभाव हो, यह तय है कि उसकी जिंदगी सफल और सुखपूर्ण गुजरेगी ही। आचार्य जी के पिता वो व्यक्ति हैं जो समय की नजाकत को भाँपकर कार्य करते हैं। जिस व्यक्ति से उसे कोई कार्य नहीं करवाना है, उसके सामने वे शांत और विनम्र व्यवहार के साथ पेश नहीं आते थे, वे ऐसे व्यक्ति की कोई परवाह भी नहीं करते। लेकिन जिस व्यक्ति से उनका किसी तरह का स्वार्थ साधता था, उसके सामने तुरंत विनम्र व्यवहार के साथ पेश आ जाते थे। उनके 'आई एम सॉरी सर' में थोड़ा झुकने और विनम्र व्यवहार का भाव निहित है। यह आचार्यनी का लचीलापन भी है। ऐसी बात नहीं है कि ऐसा आचरण करने वाले निम्नवर्ग में न हो, वहाँ भी ऐसे लोगों की एक तादाद है। पर वहाँ ठीक ऐसा आचरण नहीं मिलेगा। आश्चर्य होता है हरिशंकर परसाई की पैनी बुद्धि और किसी भी तरह का पूरा वातावरण उतार देने की कला पर। इस उद्धरण में आए 'आई डोंण्ट केयर' और 'आई एम सॉरी सर' जैसे वक्तव्यों को पढ़ते ही उच्चारण करने वाले व्यक्ति के मध्यवर्ग से सम्बद्ध होने का भाव विश्वास के साथ मानस में तैर जाता है। लगता है जैसे अंग्रेजी के इन वक्तव्यों का उच्चारण करने वाला व्यक्ति मध्यवर्ग का ही हो सकता है।

यह आचार्य जी के पिता की मूँछों का 'दुहरा स्वभाव' था। बाद में आचार्य जी भी अपने पिता के ही नक्शे–कदम पर चलने लगे। जब उन्हें मुफ्त में काम कराना होता, तो वे काम में आने व्यक्ति पर काफी समय पहले से 'स्नेह उड़ेलना' शुरू कर देते थे। जिस व्यक्ति से गले मिलते, उसके कपड़ों को वे अपने 'स्नेह' से गीला कर देते थे। अपने द्वारा ऐसा व्यवहार प्रदर्शित कर वे अपना सारा कार्य मुफ्त में करवा लेते थे। आचार्य जी इतने सचेत थे कि अगर सामने वाला व्यक्ति उनका काम मुफ्त में नहीं कर दे रहा है, तो वे किसी भी स्तर तक अपने आपको झुका लेते थे। सामने वाले व्यक्ति से अपना काम निकालने के लिए वे उसका "दासानुदास" तक बनने की कोशिश करते। आचार्यजी बेहद स्वार्थी आदमी थे, अपने पिता से भी ज्यादा। उनके पिताजी की पहचान यह थी कि वे दो अलग–अलग स्थितियों में अलग–अलग तरह से आचरण

करते थे। वे अपने से कम हैसियत वाले पर 'अहंकार' की वर्षा कर सकते थे और उच्च हैसियत वाले व्यक्ति के सामने 'दीनता' टपका सकते थे। झुकने के मामले में उनके पिता भी उनके सानी नहीं थे। इसी तपोबल से तो वे लेक्चरर से रीडर और रीडर से प्रोफेसर की पदवी तक जा पहुँचे थे। जब वे आचार्य जी की पदवी पर पहुँच चुके थे, तब मानते थे कि 'प्रकृति' के सौंदर्य में से ईश्वर झाँकता है।' इस समय तक "वे फूल को बच्चे की तरह सहलाते। कहते "ये भी मनुष्य हैं। प्रकृति में प्राण हैं। ये फूल, पत्ते, पौधे मेरी संतानें हैं। 'मैं' अपने बच्चों की तरह इन्हें प्यार करता हूँ, एक फूल कुम्हलाता है तो मुझे लगता है, मेरा जीवन कुम्हला रहा है। एक पत्ती सूखकर गिरती है, तो मुझे लगता है, मेरी एक भुजा टूट गई। कोई कली झड़ जाती है तो मुझे ऐसा क्लेश होता है जैसे मेरे प्राण का एक अंश विसर्जित हो रहा है।"[27] यहाँ आचार्यजी का बगीचे के प्रति आत्मीय और अटूट प्रेम देखा जा सकता है। एक स्थिति यह है। अब आचार्यजी के 'रिटायर' होने का समय आ गया है। वे यहाँ कुछ और दिन रुकना चाहते थे, दरख्वास्त दी, एक्सटेंशन मिल गया। अवधि पूरी हुई। रुकने के लिए फिर दरख्वास्त दी, पर एक्सटेंशन नहीं मिला। उस जगह किसी और का आना निश्चित हो गया। उन्हें यह सब कुछ सहन नहीं हुआ और उनका गुस्सा फूट पड़ा। गुस्सा फूटा उसी बगीचे पर जिसे वे बेहद चाहते थे– "उन्होंने उसी दिन नौकरों को हुक्म दिया कि बागीचे में पानी नहीं दिया जाएगा। पानी के बिना पौधों ने, धरती से जितना प्राण रस खींच सकते थे, खींचा। फिर सूखने लगे।"[28] और फिर स्थिति यहाँ तक जा पहुँची– "दो महीने में बागीचा पूरा सूख गया। वे फूल नहीं थे, जिनका स्पन्दन वे सुनते थे। वह कली नहीं थी, जिसके जीवन का उत्स वे अनुभव करते थे। वे पत्ते झड़ गए थे, जिनका उल्लास देखकर वे मुग्ध होते थे। बागीचे में अब सूखे, नंगे पौधे खड़े थे क्योंकि जमीन उन्हें जकड़े थी।"[29] यह पहली स्थिति के ठीक विपरीत दूसरी स्थिति है। यह आचार्यजी की स्वार्थपरता की पराकाष्ठा है। आचार्यजी के एक्सटेंशन न मिलने मात्र से बागीचे की क्या हालात हो गई। आचार्यजी ने इस तरह बागीचे को उजाड़ा, जैसे उन्हें बागीचे की वजह से ही एक्सटेंशन न मिला हो। जैसा व्यवहार आचार्यजी ने बागीचे के साथ किया, उसे देखकर तो ऐसा लगता है मानो बागीचे ने ही जाकर ये शिकायत कर दी हो कि इस आचार्यजी को एक्सटेंशन कतई मत दो। आचार्यजी एक मध्यवर्गीय व्यक्ति हैं और मध्यवर्गीय व्यक्ति का यह घोर अवसरवादी चरित्र है। इस संपूर्ण स्थिति से एक निष्कर्ष निकलता है। जिस व्यक्ति से स्वार्थ सधता हो उसे उसी तरह प्रेम करो जिस तरह आचार्यजी अपने बागीचे को प्रेम करते हैं और जिससे स्वार्थ न सधता हो या स्वार्थ सध गया हो तथा अब किसी काम न आता हो, उसके साथ वैसा ही आचरण करो जैसा आचार्यजी बागीचे को नष्ट करके करते हैं। परसाई की दृष्टि में मध्यवर्ग के बहुत से लोगों का व्यवहार इसी तरह का है।

परसाई जी की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण है मध्यवर्ग की स्वार्थपरता। इसे वे अपने बहुत से व्यंग्यों में अलग–अलग उदाहरणों के माध्यम से समझाते हैं। इसी प्रवृत्ति को आधार बनाकर परसाई द्वारा लिखा गया एक अन्य व्यंग्य है– 'मुफ्तखोर'। मुफ्तखोर यानी जो मुफ्त में काम करवायें, और जो मुफ्त में काम करवायें, उसके बारे में यह बताने की कतई जरूरत नहीं रह जाती कि ऐसा व्यक्ति भी अपने फायदे से संचालित होता है या नहीं। मुफ्तखोर "पाठ्य पुस्तकों के बहुत बड़े प्रकाशक का बेटा है। कभी कुछ अध्याय लिखवाता है, कभी किसी पाण्डुलिपि को ठीक करवाता है और कभी सम्पादन करवा लेता है।"[30] इस व्यंग्य में भी मुफ्तखोर की स्वार्थपरता देखी जा सकती है। व्यंग्य नायक 'मैं' से यह मुफ्तखोर हर काम मुफ्त में करवाता है। खुद का भला देखता है, दूसरे का नहीं। खुद मुफ्त में काम करवाकर अपने लिए पैसा बचायेगा, पर दूसरे की इस बात के लिए कतई चिंता नहीं करेगा कि उसे भी पैसे की आवश्यकता तो होगी ही। मुफ्त में काम करवाने वाला एक मध्यवर्गीय व्यक्ति किस तरह का आचरण करेगा, इस व्यंग्य में इसी पर प्रकाश डाला गया है। मुफ्तखोर के आचरण में भी ठीक वैसी ही दीनता, वैसी ही विनम्रता देखी जा सकती है जैसी 'आई एम सॉरी सर' के प्रसंग में देखी गई थी। 'मैं' उस मुफ्तखोर को खिड़की में से बैठा हुआ घर के सामने के मैदान से आता हुआ देख लेता था और उसकी चाल ढाल को देखकर समझ जाता था कि वह मुफ्त में काम करवाने आ रहा है या नहीं। अगर मुफ्त में काम करवाने आ रहा है तो उसकी स्थिति यह होगी– "आज मैदान में घुसते ही वह झुक गया है। उसकी जवानी गायब हो गई है। चाल में बुढ़ापा है। चेहरे पर हजार वर्षों की चिंता है। वह पोर्टफोलियों को हिलने नहीं दे रहा है। नीचे देखते हुए धीरे–धीरे इतने हल्के चल रहा है कि मेरे मैदान की घास को कष्ट न हो।"[31] जब वह मकान के दरवाजे पर दस्तक देता है तो सर्वप्रथम उसका 'आर्त्त बकरी की तरह' 'मैं' उच्चरित होता है और कुछ देर बाद 'आ सकता हूँ'। मुफ्तखोर " 'मैं' के बाद इतना रुकता है कि लगता है दरवाजे पर दो आदमी हैं। एक सिर्फ 'मैं' कहता है और दूसरा कहता है, 'आ सकता हूँ'।"[32] उसके क्रिया–व्यापार, उसकी गतिविधियों का एक यह सुंदर उदाहरण भी देखिए– "वह धीरे से पर्दा हटाकर कमरे में घुसता है। धीमे–धीमे सरकता है। या तो वह नंगे पाँव है या जूतों में एड़ी नहीं है। आहटहीन व्यक्तित्व हो गया। वह धीमे से कुर्सी पर बैठ जाता है। इतने हल्के से बैठता है कि कुर्सी को तकलीफ न हो। कम से कम वजन कुर्सी पर डाल रहा है। कुर्सी पर पीछे पीठ को टिकाता नहीं है। इससे कुर्सी को दर्द होगा। यों उसे दुःख है कि बेचारी कुर्सी पर उसका इतना भी बोझ पड़ रहा है।"[33] इस व्यंग्य में जितना महत्त्वपूर्ण एक मध्यवर्गीय का यह क्रिया–व्यापार है, उतना ही महत्त्वपूर्ण है उस व्यक्ति का मुफ्त में काम करवाने के लिए वातावरण बनाना। ऐसा व्यक्ति इस तरह का वातावरण बनाने में माहिर होता है कि शुरुआत कहाँ से और कैसे करें। मुफ्तखोर हर बार एक नया

वातावरण बनाता है। वह कभी 'मैं' की छोटी भाँजी से उसके नाम के बारे में पूछ लेता है, कभी वह रूम की किसी वस्तु से वातावरण बनाने की कोशिश करता और 'मैं' से उसकी चर्चा करता। 'मैं' हर बार उसकी अवहेलना करता है और जता देता है कि आज चाहे कुछ भी हो जाए, वह उसका काम मुफ्त में नहीं करेगा। मुफ्तखोर 'मैं' से अच्छी तरह परिचित है। वह उसकी चिंताओं, उसकी आकांक्षाओं और उसकी एक–एक गतिविधि से परिचित है। मुफ्तखोर उसकी नब्ज़ पहचानता है। वह जानता है कि (व्यंग्य–नायक) 'मैं' को क्रांति की बात अच्छी लगती है तो वह यहीं से हार–थक कर अपनी बात शुरू कर देता है। परसाई लिखते हैं– "उसके सामने आज का अख़बार है। बड़े अक्षरों में उस पर फ्रांस के विद्यार्थी और मजदूर आंदोलन का समाचार है। उसकी नजर समाचार पर पड़ती है। वह कहता है– "सर, अपने देश में क्रांति क्यों नहीं होती।"[34] यानी मुफ्तखोर अपना काम मुफ्त में करवाने के लिए हर तरीके से 'मैं' को फुसलाना चाहता है, पर वह हर बार असफल रहता है। मुफ्तखोर के चरित्र का एक रूप यह है जो उसके किया–व्यापार और वातावरण बनाने की कला से ध्वनित हो रहा है यानी 'आई एम सॉरी सर' वाला भाव। इस मुफ्तखोर मध्यवर्गीय व्यक्ति के चरित्र का एक दूसरा पहलू भी है। जब उसे कोई भी काम मुफ्त में नहीं करवाना होता था तो उसके चेहरे पर उपर्युक्त 'भयानक भक्ति भाव' नहीं होता था। उस समय वह न तो घास के अपने पैरों से रौंदे जाने की ही परवाह करता और न अपने बैठने से कुर्सी को होने वाले दुःख की ही परवाह करता। बल्कि नकद पैसे देकर अपना काम करवाने लेने के समय भी उसके चेहरे पर और उसकी चाल–ढाल में एक खास किस्म का अकड़ वाला भाव होता था। यह मुफ्तखोर के चरित्र का एक दूसरा पहलू है। हरिशंकर परसाई ने अपने व्यंग्य 'आचार्य जी, एक्सटेंशन और बागीचा' में 'आई डोण्ड केयर' और 'आई एम सॉरी सर' का प्रयोग किया था, पर इनका वास्तविक भाव और अर्थ तो 'मुफ्तखोर' व्यंग्य में ही खुलता है। जब मुफ्तखोर का काम 'भयानक भक्ति–भाव' प्रदर्शित करने के बाद हो जाता है और जैसे ही वह उठकर वापस जाने लगता है तो उसमे अकड़ा वाला भाव आ ही जाता है। परसाई लिखते हैं– "वह ऐसे झटके से उठता है कि कुर्सी फर्श पर रगड़ खा जाती हैं। उसके जूतों में एड़ी लग गई है। वे खर–खर की आवाज कर रहे हैं। एक झटके से पर्दे को हटाता है। सीढ़ियों पर से कूदता हुआ उतरता है। वह मैदान पार कर रहा है। पोर्टफोलियों जोर से हिलाता हुआ घास को रौंदता हुआ चला जा रहा है।"[35] यानी मुफ्तखोर की अब गरज निकल गई है। यह मुफ्तखोर मध्यवर्गीय व्यक्ति का अवसरवादी चरित्र है।

परसाई के व्यंग्यों में नौकरशाही का भी अवसरवादी रूप प्रकट हुआ है। जनतंत्र में जनता द्वारा चुने गए उम्मीदवार शासक वर्ग का रूप धारण करते हैं और वे देश का शासन चलाते हैं। देश की पूरी नौकरशाही इस शासक वर्ग के अधीन होती है। शासक

वर्ग बदलता रहता है। एक सरकार गिरी, दूसरी आई। दूसरी गिरी, तीसरी आई या पहले वाली ही या फिर वही। यानी तय सीमा में शासक वर्ग का चुनाव होता रहता है, पर सरकार के बदलने का नौकरशाही पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। हर पाँच वर्ष में शासक वर्ग की तरह नौकरशाही के चुनाव नहीं होते। नौकरशाही चुनावरहित है। व्यवस्था–तंत्र को सँभालने की जिम्मेदारी इसी नौकरशाही की होती है। चाहे सरकार के बदलने का नौकरशाही पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़े, पर परसाई जी की दृष्टि में नौकरशाह अपने मन में किसी न किसी तरह का विपरीत प्रभाव स्वयं पैदा कर ही लेते हैं। जिस समय सरकार जिस राजनीतिक दल की होती है, नौकरशाही उस सरकार की तरफ हो जाती है। अगली बार अगर किसी अन्य राजनीतिक दल की सरकार बनी तो नौकरशाही उसकी तरफ हो जाएगी। परसाई के व्यंग्य 'आफ्टर आल आदमी' में नौकरशाही का यही रूप उभरा है। संदर्भ है– लोकसभा का चुनाव होने वाला है, चुनाव से पहले तक कांग्रेस की सरकार है। लोगों में बातचीत चल रही है कि कल मतदान होना है। एक 'सरकारी नौकर' कहता है कि हम तो कांग्रेस को वोट देंगे। चुनाव के नतीजे आते हैं। जनता पार्टी जीत गई। लोगों में बात होती है,। एक व्यक्ति कहता है कि उम्मीद नहीं थी कि कांग्रेस 'इस बुरी तरह हार जाएगी'। परसाई आगे लिखते हैं– "वे (सरकारी नौकर) बोले– 'ठीक है जी, हमारा वोट जनता पार्टी के काम आया।' मुझे याद आया कि ये तो कह रहे थे कि मैं कांग्रेस को वोट दूँगा। मैंने उनसे पूछा– तो क्या आपने जनता पार्टी को वोट दिया था? वे बोले– हाँ जी, आफ्टर आल हम सरकारी नौकर है।"[36] यानी नौकरशाही भी अवसर देखकर अपना रुख बदलती है। शायद इस तरह रुख बदलने से नौकरशाही का कुछ भला होता हो।

फायदा देखकर काम करने वाले मध्यवर्ग के चरित्र का एक अन्य पहलू 'ठण्डा शरीफ आदमी' व्यंग्य में उभरा है। एक मध्यवर्गीय व्यक्ति है। "दुनियाँ में जो कुछ है, उसे उसने दो हिस्सों में बाँट लिया है– अपने मतलब का और अपने मतलब का नहीं। जिससे उसे लाभ–हानि नहीं, उसका उसके लिए कोई मतलब नहीं।"[37] यानी इस स्तर तक स्वार्थी होना कि व्यक्ति का मूल्यांकन केवल और केवल लाभ–हानि को ध्यान में रखकर किया जाए और वो भी सीधे–सीधे खानों में बाँटकर। यह व्यक्ति अपनी जिंदगी में सब कुछ 'एडजस्ट' करके चलता है। जिससे उसे लाभ होता है, उससे बनाकर रखता है और जिससे लाभ की कतई आशा नहीं है उससे कोई संबंध नहीं रखता। अधिकांश मध्यवर्गीय व्यक्ति अपनी जिंदगी में 'एडजस्ट' करके चलते ही हैं। वह भी 'एडजस्ट' करके चलता है, इसलिए जिंदगी में उसे कोई परेशानी नहीं उठानी पड़ती। परसाई लिखते हैं– "एक दिन मैंने कहा, "श्रीधर तुम्हारी बहुत बुराई करता है।" उसके कहा, "करने दो। हम तो एडजस्ट करके चलते हैं।" उसके बॉस उसके व्यवहार से असंतुष्ट थे। मगर वह कहता, "सब ठीक है। हम तो एडजस्ट करके चलते हैं।"[38] यह

'एडजस्ट' करने का ही नतीजा है कि "एक के बाद एक प्राप्ति उसे होती जाती है।"[39] वह बार–बार सफल होता रहता है और जो लोग 'एडजस्ट' करके नहीं चलते हैं, वे हफ्तों दफ्तर का चक्कर लगाने के बावजूद अपना काम नहीं करवा पाते हैं। मगर यह व्यक्ति 'एडजस्ट' कर लेता है। सवाल है– ऐसे लोग 'एडजस्ट' कैसे कर लेते हैं? इसका जबाव इस उद्धरण में देखिए– "अपने को भावानात्मक रूप से किसी भी व्यक्ति से बिना जोड़े सब निभाता जाता है। जो उसके लिए उतना ही निर्जीव है, जितना पत्थर। उससे रोज घर जाकर मिलेगा, अगर वह कोई फायदा पहुँचा सकता है।"[40] यानी एडजस्ट करने के लिए प्रयास करना पड़ता है, लोगों से मिलना पड़ता है, उनके घर जाना पड़ता है। पर आश्चर्य की बात यह है कि यह सब बिना किसी भावनात्मक लगाव के हो जाता है। 'एडजस्ट' शब्द में यह अर्थ–ध्वनि निहित है– बिना किसी भावनात्मक लगाव के मिल लेना। हरिशंकर परसाई का एक अन्य व्यंग्य है– 'मिल लेना'।[41] उसमें उपर्युक्त सवाल का जबाव ज्यादा विस्तार से मिल जाएगा।

बुद्धिजीवी वर्ग में यह अवसरवाद, यह स्वार्थपरता और जिधर अपना लाभ दिखता हो, उधर चले जाना–साफ दृष्टिगोचर होता है। परसाई ने अपने एक व्यंग्य 'रोजमर्रा का मामला' में बुद्धिजीवी वर्ग के दो रूप माने हैं– एक, तनख्वाह वाला बुद्धिजीवी और दूसरा, बिना तनख्वाह वाला बुद्धिजीवी।[42] लेखक बिना तनख्वाह वाला बुद्धिजीवी होता है। इनकी आमदनी का सबसे बड़ा जरिया और कभी–कभी एकमात्र जरिया लेखन ही है। लेकिन वे लेखन को भी व्यावसायिकता का रूप दे देते हैं और विशुद्ध लाभ की दृष्टि से संचालित हो जाते हैं। व्यावसायिक मानसिकता से संचालित होना उतना बुरा नहीं, जितना बुरा यह कि किसी अन्य लेखक की पुस्तकें ज्यादा मात्रा में बिक जाए तो उसको ये कह देना कि "तुम लोग बड़ी जल्दी और आसानी से बिक जाते हो।"[43] ऐसे कहने वाला 'वे बहादुरी से बिके' व्यंग्य के एक लेखक पात्र हैं जो न केवल बड़े लेखक हैं, अपितु बहुत पैसे वाले और प्रतिष्ठा वाले भी हैं। इनकी 'पीड़ा' यह है कि इनकी पुस्तकें न बिकीं और इनके पास आने वाले लेखक की काफी पुस्तकें बिक गईं। दूसरी बात यह कि अगर सरकार पुस्तकें खरीद रहीं हैं तो ज्यादा पैसा मिलने की संभावना हो जाती है। सरकार लाइब्रेरियों में पुस्तकें भेजती है, इसलिए जिस लेखक की पुस्तकें नहीं बिकी हैं, उसका 'दुःख' दुगुना हो जाता है। इस लेखक की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि जिन लेखकों की पुस्तकें बिक गईं, उनसे तो ये कहता है कि तुम पैसे के लिए बहुत जल्दी बिक जाते हो, लेकिन इनकी वास्तविकता बाद में उजागर होती है। जब ये सोचते हैं कि पुस्तकों के न बिकने से हम ही 'घाटे' में रहेंगे, तो ये अपनी 'क्रांतिकारिता' छोड़कर नम्रता अपना लेते हैं और सामने वाले दूसरे लेखक से अपनी पुस्तकें बिकवाने का नम्रतापूर्वक अनुरोध करते हैं। परसाई जी की दृष्टि में ये लेखक बड़ी 'बहादुरी से बिके'। यह बुद्धिजीवी का दुहरा स्वभाव है। बुद्धिजीवी के चरित्र का ठीक यही दोहरापन

'सड़े आलू का विद्रोह' व्यंग्य में भी आया है। यहाँ भी विद्रोह की वही बात कि हम किसी भी कीमत पर नहीं बिकेंगे और फिर अपने को निहायत सस्ते दामों में बेच देंगे। यहाँ विडम्बनापूर्ण स्थिति यह है कि बुद्धिजीवी (आलू) को बिकने का कोई मलाल नहीं है और वे 'हँसते हुए मालिक के साथ' चले जाते हैं। बिकने वाले ऐसे बुद्धिजीवी भी दो तरह के होते हैं और ये ज्यादातर ऐसे ही विषयों पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। परसाई जी ने लिखा है कि "इधर खरीद–फरोख़्त की बात बुद्धिजीवियों में बहुत सुन रहा हूँ। यह शिकायत उस चूहे की तरह है जो रोटी को देखकर चूहेदानी में फँस गया है। यह शिकायत उस चूहे की भी है, जिसे अभी तक चूहादानी नहीं मिली है। वह तलाश में है"[44] बिकने की शिकायत करने वाले बुद्धिजीवियों में वे हैं जो बिक गए हैं और वे भी, जो अभी बिके नहीं है लेकिन मौका आया तो चूकेंगे नहीं। इस प्रकार बड़ी सहजता से ये कहा जा सकता है कि बुद्धिजीवी वर्ग में ही नहीं अपितु मध्यवर्ग के अन्य समूहों में भी स्वकेन्द्रित होने की प्रवृत्ति भारी मात्रा में देखने को मिलती है। इस वर्ग में दूसरों की चिंता करने की प्रवृत्ति अत्यल्प या नहीं के बराबर है। इस वर्ग में बहुत कम लोग हैं जो स्वकेन्द्रित होने के साथ–साथ परकेन्द्रित भी हैं अर्थात् जो दूसरों की थोड़ी बहुत चिंता करते हैं। ऐसे लोग भी समाज में है पर वे प्रकाशीय सूक्ष्मदर्शी से देखने पर ही मिलेंगे। पूर्णतः स्वकेन्द्रित होने का मतलब होता है व्यक्ति का अपनी जिम्मेदारियों से भाग जाना। जब आदमी अपनी जिम्मेदारियों से जी चुराना शुरू कर देता है तो सुखपूर्ण जिंदगी गुजारना उसके लिए बड़ा सहज हो जाता है। परसाई के व्यंग्यों में मध्यवर्ग का गैर जिम्मेदार चरित्र भिन्न–भिन्न रूपों में उभरा है।

अध्यापक वर्ग मध्यवर्ग का एक बड़ा हिस्सा है। अध्यापक वर्ग में विश्वविद्यालय से लेकर विद्यालय तक के अध्यापक आते हैं। इनमें बहुत से उच्च मध्यवर्ग, बहुत से मध्यवर्ग और बहुत से निम्न मध्यवर्ग से सम्बद्ध हैं। इनमें सभी के गैर जिम्मेदार रूप का परिचय परसाई के व्यंग्यों में देखने को मिलता है। परसाई का एक व्यंग्य है– 'एकलव्य ने गुरू को अंगूठा दिखाया'। यह व्यंग्य विश्वविद्यालयी अध्यापक वर्ग के चरित्र के विभिन्न पहलुओं को दिखाता है। इसमें बताया गया है कि कैसे एक अध्यापक, जो कि विश्वविद्यालय में 'रीडर' हैं, अपने खुशामदी और पढ़ाई के मामले में दोयम दर्जे के छात्र को ऊपर चढ़ाने के लिए, पढ़ाई में अव्वल दर्जे के छात्र को पीछे ढकलने की हर संभव कोशिश करता है। यह विश्वविद्यालयी अध्यापक वर्ग के चरित्र के गैर–जिम्मेदारी से भरे हुए पहलू को उजागर करता है। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह अपने विद्यार्थियों में विषयों के प्रति रुचि जाग्रत करे, जिज्ञासा पैदा करे और मेहनत करने के लिए उसे प्रोत्साहित करे। बहुत कम अध्यापक होते हैं जो अपनी इन जिम्मेदारियों का पालन करते हैं। अपनी जिम्मेदारियों से कन्नी काटने की विश्वविद्यालयी अध्यापक वर्ग की प्रवृत्ति बन चुकी है। 'एकलव्य ने गुरू को अँगूठा दिखाया' व्यंग्य के गुरू दोणाचार्य ऐसे

'सड़े आलू का विद्रोह' व्यंग्य में भी आया है। यहाँ भी विद्रोह की वही बात कि हम किसी भी कीमत पर नहीं बिकेंगे और फिर अपने को निहायत सस्ते दामों में बेच देंगे। यहाँ विडम्बनापूर्ण स्थिति यह है कि बुद्धिजीवी (आलू) को बिकने का कोई मलाल नहीं है और वे 'हँसते हुए मालिक के साथ' चले जाते हैं। बिकने वाले ऐसे बुद्धिजीवी भी दो तरह के होते हैं और ये ज्यादातर ऐसे ही विषयों पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। परसाई जी ने लिखा है कि "इधर खरीद–फरोख़्त की बात बुद्धिजीवियों में बहुत सुन रहा हूँ। यह शिकायत उस चूहे की तरह है जो रोटी को देखकर चूहेदानी में फँस गया है। यह शिकायत उस चूहे की भी है, जिसे अभी तक चूहादानी नहीं मिली है। वह तलाश में है"[44] बिकने की शिकायत करने वाले बुद्धिजीवियों में वे हैं जो बिक गए हैं और वे भी, जो अभी बिके नहीं है लेकिन मौका आया तो चूकेंगे नहीं। इस प्रकार बड़ी सहजता से ये कहा जा सकता है कि बुद्धिजीवी वर्ग में ही नहीं अपितु मध्यवर्ग के अन्य समूहों में भी स्वकेन्द्रित होने की प्रवृत्ति भारी मात्रा में देखने को मिलती है। इस वर्ग में दूसरों की चिंता करने की प्रवृत्ति अत्यल्प या नहीं के बराबर है। इस वर्ग में बहुत कम लोग हैं जो स्वकेन्द्रित होने के साथ–साथ परकेन्द्रित भी हैं अर्थात् जो दूसरों की थोड़ी बहुत चिंता करते हैं। ऐसे लोग भी समाज में है पर वे प्रकाशीय सूक्ष्मदर्शी से देखने पर ही मिलेंगे। पूर्णतः स्वकेन्द्रित होने का मतलब होता है व्यक्ति का अपनी जिम्मेदारियों से भाग जाना। जब आदमी अपनी जिम्मेदारियों से जी चुराना शुरू कर देता है तो सुखपूर्ण जिंदगी गुजारना उसके लिए बड़ा सहज हो जाता है। परसाई के व्यंग्यों में मध्यवर्ग का गैर जिम्मेदार चरित्र भिन्न–भिन्न रूपों में उभरा है।

अध्यापक वर्ग मध्यवर्ग का एक बड़ा हिस्सा है। अध्यापक वर्ग में विश्वविद्यालय से लेकर विद्यालय तक के अध्यापक आते हैं। इनमें बहुत से उच्च मध्यवर्ग, बहुत से मध्यवर्ग और बहुत से निम्न मध्यवर्ग से सम्बद्ध हैं। इनमें सभी के गैर जिम्मेदार रूप का परिचय परसाई के व्यंग्यों में देखने को मिलता है। परसाई का एक व्यंग्य है– 'एकलव्य ने गुरू को अंगूठा दिखाया'। यह व्यंग्य विश्वविद्यालयी अध्यापक वर्ग के चरित्र के विभिन्न पहलुओं को दिखाता है। इसमें बताया गया है कि कैसे एक अध्यापक, जो कि विश्वविद्यालय में 'रीडर' हैं, अपने खुशामदी और पढ़ाई के मामले में दोयम दर्जे के छात्र को ऊपर चढ़ाने के लिए, पढ़ाई में अव्वल दर्जे के छात्र को पीछे ढकलने की हर संभव कोशिश करता है। यह विश्वविद्यालयी अध्यापक वर्ग के चरित्र के गैर–जिम्मेदारी से भरे हुए पहलू को उजागर करता है। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह अपने विद्यार्थियों में विषयों के प्रति रुचि जाग्रत करे, जिज्ञासा पैदा करे और मेहनत करने के लिए उसे प्रोत्साहित करे। बहुत कम अध्यापक होते हैं जो अपनी इन जिम्मेदारियों का पालन करते हैं। अपनी जिम्मेदारियों से कन्नी काटने की विश्वविद्यालयी अध्यापक वर्ग की प्रवृत्ति बन चुकी है। 'एकलव्य ने गुरू को अँगूठा दिखाया' व्यंग्य के गुरू दोणाचार्य ऐसे

ही अध्यापक हैं जो अमीर परिवार से सम्बद्ध अपने एक विद्यार्थी को इसलिए क्लास में अव्वल लाना चाहते हैं क्योंकि वह अमीर विद्यार्थी पढ़ाई की तुलना में गुरू कृपा में ज्यादा विश्वास करता है। गुरू द्रोणाचार्य भी अपने शिष्य की हर संभव 'सहायता' के लिए तैयार हैं, पर गुरू के लिए समस्या यह है कि अपनी ही कक्षा के मेधावी छात्र एकलव्यदास को कैसे अंक प्राप्ति में पीछे खिसकाये। आधुनिक गुरू द्रोणाचार्य अपने शिष्य के अमीर बाप के घर आते–जाते रहते हैं। इस शिष्य का नाम अर्जुनदास है और इन्हीं के पिता ने आधुनिक द्रोणाचार्य को विश्वविद्यालय में 'रीडर' के पद पर स्थापित करने में अहम भूमिका अदा की थी। इससे पता चलता है कि अधिकांश विश्वविद्यालयी अध्यापकों के किसी ऐसे व्यक्ति से खास सम्बंध होते हैं जिनकी, लोकप्रचलित शब्दावली में कहें, तो ऊपर तक पहुँच होती है और इस सम्बंध का बेजा फायदा मध्यवर्ग से 'बिलोंग' करने वाले आधुनिक द्रोणाचार्य जैसे अध्यापक उठाते हैं। ढेरों ऐसे अध्यापक होते हैं जो योग्यता के आधार पर विश्वविद्यालय जैसे उच्च शिक्षण संस्थानों में पद–स्थापित नहीं होते हैं, अपितु वे पद–स्थापित होते हैं– प्रभुत्वशाली व्यक्तियों तक अपनी पहुँच के कारण। यह स्थिति दर्शाती है कि अध्यापक वर्ग ही नहीं, अपितु मध्यवर्ग का बड़ा हिस्सा (अन्य समूहों के लोग भी) साँठ–गाँठ की राजनीति में विश्वास करता है। मध्यवर्ग के इस चरित्र को परसाई ने अपने अन्य बहुत से व्यंग्यों में जगह दी है। परसाई ने एक जगह कुछ विश्वविद्यालयी अध्यापकों के बारे में लिखा है कि ये 'एक्सीडेंट' से बने हुए बुद्धिजीवी हैं। ऐसे 'एक्सीडेंट' आजकल भारी मात्रा में हो रहे हैं। इस सम्बंध में सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ तो यह है कि ऐसे अध्यापकों को जरा भी शर्म नहीं आती कि वे कैसी योग्यता (योग्यता का पैमाना केवल 'डिग्री' नहीं होती, ये अलग बात है कि जिसके पास 'डिग्री' नहीं है उसे योग्य ही नहीं माना जाता) लेकर किस स्तर के पद का 'निर्वहन' कर रहे हैं। इस व्यंग्य के द्रोणाचार्य छात्रों को 'कुंजी' से पढ़ाते हैं। यह व्यंग्य विश्वविद्यालयी अध्यापक वर्ग के चरित्र के एक अन्य पहलू का भी उद्घाटन करता है। शिष्यों के अपने–अपने प्रिय अध्यापक होते हैं और अध्यापकों के अपने–अपने प्रिय शिष्य। दोनों एक सूत्रबद्ध हो जाते हैं तो समझना चाहिए कि कुछ नया होगा। ऐसे समय शिष्य अध्यापक के लिए एक साधन में तब्दील हो जाता है जिसके माध्यम से बहुत से कार्य सम्पन्न कराए जाते हैं। यहाँ इन कार्यों की सूची देने की जरूरत नहीं है। पर मध्यवर्ग के इस हिस्से की गैर–जिम्मेदारी के ढेरों उदाहरण परसाई के व्यंग्यों में देखे जा सकते हैं। 'आचार्यजी, एक्सटेंशन और बागीचा', 'रिसर्च का चक्कर', 'इतिश्री रिसर्चाय', 'साहित्य शोध प्रक्रिया' आदि ऐसे ही व्यंग्य हैं।

आज के मध्यवर्ग के साधन सम्पन्न तबके का एक प्रिय शौक है– विदेश जाना। वह भिन्न–भिन्न कामों से विदेश जाता है लेकिन इन सारे कामों का एक ही लक्ष्य है– कैसे जिन्दगी को खुशहाल और सुविधापूर्ण बनाया जाये। उसे अपने 'कैरियर' की बहुत

चिंता होती है। कम पैसे वाली नौकरी से वह परहेज करता है। कुछ को मजबूरी में निम्न मध्यवर्ग का बनना पड़ता है। आज प्रतिष्ठा इस बात से बनती है कि व्यक्ति के पास कितना पैसा है। पैसे के प्रति मध्यवर्ग में जबरदस्त आकर्षण देखने को मिलता है, विशेषकर उच्च मध्यवर्ग और मध्यवर्ग में। अतः मध्यवर्ग का यह साधन सम्पन्न तबका ऐसे 'प्रोफेशन' से अपने को जोड़ने की कोशिश करता है जिससे ज्यादा आमदनी हो। इसलिए वह पढ़ाई करने विदेश जाता है और वहाँ की संस्कृति में पूरी तरह सराबोर होकर वापस लौटता है। यहाँ आकर वह उसी तरह की जिंदगी जीने लगता है। फिर अपने देश की संस्कृति को वह पश्चिम के प्रतिमानों से परखने की कोशिश करता है। अब तो अपने देश में विशेषकर महानगरों में भी पश्चिमी जीवन शैली हावी होती जा रही है। मध्यवर्ग का ठीक यही रूप परसाई के व्यंग्यों में देखने को मिलता है। उनके 'बुद्धिवादी' व्यंग्य के बुद्धिजीवी इस मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस व्यंग्य के बुद्धिजीवी पाश्चात्य प्रेमी हैं। व्यंग्य के मुताबिक वे विदेश यात्रा से अभी–अभी लौटे हैं। दो साल के अपने प्रवास के दौरान वे पूर्णतः पाश्चात्य–परस्त हो गए हैं। और वे देश की संस्कृति का मूल्यांकन पाश्चात्य प्रतिमानों से करते हैं–

वे बोले– "मुझे यूरोप जाकर समझ में आया कि हम लोग बहुत पतित हैं।"

मैंने कहा– "अपने पतन को जानने के लिए आपको इतनी दूर जाना पड़ा?"

बुद्धिवादी ने जबाव दिया– "जो गिरने वाला है, वह नहीं देख सकता कि गिर रहा है। दूर से देखने वाला ही उसके गिरने को देख सकता है।"[45] आगे वे अपने देश के पतन का कारण बतलाते हैं– "बुद्धिजीवी ने आँखें बंद करके सोचा। फिर हमारी तरफ देखकर कहा– "टु माई माइंड, हममें करेक्टर नहीं है।"[46] असल में ऐसा कहने वाले वे लोग होते हैं जो अपने देश से, अपनी जड़ों से पूर्णतः कट चुके होते हैं। ऐसे लोगों को अपने देश में गर्व करने वाली कोई चीज ही नहीं नजर नहीं आती। उनके लिए तो गर्व करने वाली चीज़ें पश्चिम में ही है। मध्यवर्ग में यह मानसिकता कोई हाल की चीज़ नहीं है, भारत में जब आधुनिक मध्यवर्ग का उदय हुआ था, तभी से उसकी मानसिकता इस तरह की रही है। अपने उदय से ही व्यापक स्तर पर मध्यवर्ग पश्चिमी की तरफ उन्मुख रहा है। हालाँकि पश्चिम की तरफ उन्मुख होना कोई गलत नहीं है, अच्छी चीज़ें लेनी ही होती हैं। पश्चिम से पूरी तरह विमुख नहीं हुआ जा सकता, अगर विमुख होते हैं तो बहुत कुछ ऐसा जो अपने देश की उपज नहीं है, लेकिन पश्चिम की उपज है, के लाभ से वंचित रहना पड़ेगा। लेकिन इस तरह की मानसिकता का हो जाना जैसी 'बुद्धिवादी' की है, पूर्णतः ठीक भी नहीं है। इस बुद्धिजीवी की मानसिकता में अपने देश को लेकर हीनता बोध भरा हुआ है। बुद्धिजीवी की विदेश जाने की लालसा को दर्शाने वाला यह उदाहरण पर्याप्त होगा, जो परसाई के 'वर्षा–विद्रूप' व्यंग्य में आया है– "पक्षी घोंसलों में सिर निकालकर बार–बार झाँक रहे हैं जैसे बड़े लेखक लिखना

छोड़ उत्सुकता से प्रतिनिधि मंडलों में विदेश जाने का मौका ताक रहे हों।''[47] पर विदेश जाने की लालसा पालने वाले केवल बद्धिजीवी नहीं हैं, मध्यवर्ग के पूरे साधन–सम्पन्न तबके की यह लालसा है।

मध्यवर्ग के इस साधन–सम्पन्न तबके में निम्न मध्यवर्ग नहीं आता है, यह उच्च मध्यवर्ग है। उच्च मध्यवर्ग बेहद सुविधाभोगी लोगों का वर्ग है। इस वर्ग के पास किसी चीज की कमी नहीं होती है। इसके पास अपनी जिंदगी को बेहद आरामदायक बनाने के लिए सारे साधन उपलब्ध हैं। पैसा है तो सब कुछ है। इसके पास चमचमाती हुई गाड़ियाँ, रेफ्रीजरेटर, सोफासेट और मनोरंजन के विविध साधन होते हैं। यह मनोरंजन करने वाले लोगों का भी वर्ग है। इसी साधन सम्पन्न तबके ने पश्चिमी जीवन पद्धति को अपनी जिंदगी में पूर्णतः अपना लिया है। उच्च वर्ग की तरह मध्यवर्ग का यह तबका संस्कृति विहीन लोगों का वर्ग बन गया है। इस वर्ग में विशुद्ध भोगवाद के प्रति गहरा आकर्षण है। ऐसे व्यक्तियों के पास दूसरों के बारे में सोचने का बिल्कुल समय नहीं होता। परसाई जी की नजर में ''इस वर्ग की जीवन के प्रति पशु जैसी दृष्टि हो जाती है। चीता अपने लिए जीता है। मादा से सेक्स सम्बंध केवल शरीर–स्तर पर, संभोग के बाद मादा से कोई सम्बंध नहीं। अपने लिए जानवर मारता है और अकेला उसे खाकर सो जाता है। चीते की कोई संस्कृति नहीं होती।''[48] यह उच्च मध्यवर्ग में आई अमानवीकरण की स्थिति है। अमानवीकरण की इस स्थिति में व्यक्ति न केवल समाज से पूरी तरह कट जाता है, अपितु उसमें अपने परिवार तक के प्रति कोई भावनात्मक लगाव नहीं रह जाता। मध्यवर्ग के इस तबके का मुख्य लक्ष्य रह गया है– ''अपने लिए पैसा कमाना और उसका सिर्फ आप ही भोग करना। सामाजिक दायित्व कुछ नहीं। दूसरे मनुष्य के प्रति कोई भावना नहीं। परिवार में भी सम्बंध टूट जाते हैं। पत्नी से कोई भावनात्मक लगाव नहीं, क्योंकि वह 'सेक्स' खरीद लेता है। बच्चों के प्रति प्रेम नहीं। यही रुख बीबी और बच्चों का। जो चीज अपने काम की नहीं, वह बेकार।''[49] यह स्थिति है उच्च मध्यवर्ग की। हाल के एक सर्वेक्षण (2006 की शुरुआत) में इस बात का खुलासा हुआ है कि यह स्थिति उच्च वर्ग में है पर उच्च मध्यवर्ग भी इससे कटा हुआ नहीं है। यह भोगवाद की पराकाष्ठा है। इससे पता चलता है कि मध्यवर्ग में भी सुविधाभोग का स्तर एक जैसा नहीं है और इसमें काफी भिन्नता है। यही अन्तर सामाजिक दायित्व के मामले में भी है। सामाजिक दायित्वों से जितना उच्च मध्यवर्ग कटा हुआ है उतना निम्न मध्यवर्ग नहीं। उसके लिए किसी उदाहरण की जरूरत नहीं है। उच्च मध्यवर्ग समाज से कैसे और कितना कटा हुआ है, इसका पता परसाई के 'असुविधाभोगी' व्यंग्य से चलता है। इस व्यंग्य का एक उच्च मध्यवर्गीय लेखक इतना सुविधाभोगी है कि वह पान खाने के बाद पीक थूकने के लिए पीकदान तक अपने हाथों से नहीं उठा सकता और वह व्यक्ति गर्मी से परेशान होकर हर बार बड़े से 'फ्रिज' में

सोने चला जाता है। इसके बावजूद यह व्यक्ति दूसरों से यह कहता रहता है कि आज के लेखक सुविधाभोगी हो गए हैं। वह स्वयं को 'असुविधाभोगी' मानता है। वे किन–किन सुविधाओं से वंचित हैं, परसाई जी लिखते हैं– "उन्होंने जवाब दिया– "हम तो सारी सुविधाओं से वंचित हैं। हमें पैदल चलने की सुविधा नहीं है। कष्ट उठाने की सुविधा नहीं है। दुःखी होने की सुविधा नहीं है। ईमान की बात कहने की सुविधा नहीं हैं। सच बोलने की सुविधा नहीं है। किसी को नाराज करने की सुविधा नहीं है। संघर्ष करने की सुविधा नहीं है। खतरा उठाने की सुविधा नहीं है। अरे, हमें अपना पीक खुद थूकने तक की सुविधा नहीं है। ये सारी सुविधाएं तुम जैसों ने हथिया ली है।"[50] हालाँकि यह जवाब 'असुविधाभोगी' का है, लेकिन यह परसाई जी की चिर–परिचित वक्र शैली में प्रस्तुत हुआ कथन है जिसका पाठकों को एकदम विपरीत अर्थ ग्रहण करना होगा। यहाँ इस कथन का अर्थ होगा कि 'असुविधाभोगी' इन सारी चीजों से कटा हुआ है। यह 'असुविधाभोगी' का सुविधाभोग है। मध्यवर्ग की सुविधाभोगी मानसिकता परसाई के बहुत से व्यंग्यों में उभरी है। इन सभी व्यंग्यों की चर्चा करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है।

यह था, एक उच्च मध्यवर्गीय 'असुविधाभोगी' का 'दुःख'। मध्यवर्ग के अन्य 'दुःखों' को भी परसाई के व्यंग्यों में जगह मिली है जिनसे मध्यवर्ग के चरित्र के अन्य पहलुओं की जानकारी मिलती है। दुःख मध्यवर्ग के भी होते हैं और निम्नवर्ग के भी। निम्नवर्ग का दुःख यह है कि वह कठोर शारीरिक श्रम की प्रकिया से गुजरने के बाद भी अपने लिए मूलभूत आवश्यकताओं की इतनी पूर्ति नहीं कर ले रहा है कि कुछ दिन आराम से तो बैठकर खा सके। और मध्यवर्ग का दुःख ? मध्यवर्ग का दुःख कुछ दुसरे तरह का है। मध्यवर्ग के दुः,ख को एक पुस्तक विक्रेता के दुःख के माध्यम से देखा जा सकता है। 'अपनी–अपनी बीमारी' व्यंग्य में परसाई जी लिखते हैं– "पिछले साल पचास हजार की किताबें पुस्तकालयों को बेची थीं। इस साल चालीस हजार की बिकीं। कहते हैं– बड़ी मुश्किल है। सिर्फ 40 हजार की किताबें इस साल बिकीं। ऐसे में कैसे चलेगा ?"[51] एक अन्य मध्यवर्गीय व्यक्ति हैं जिनका इसी तरह का दुःख है। परसाई लिखते हैं– "तीसरे बंधु की रोटरी मशीन आ गई। अब मोनो मशीन आने में कठिनाई हो रही हैं। वे दुःखी है।"[52] दोनों मध्यवर्गीय व्यक्ति है और दोनों का दुख एक ही तरीके का है। दोनों जीवन की सुविधापूर्ण चीजों को प्राप्त कर चुके हैं, फिर भी दुखी हैं। यहाँ मध्यवर्गीय व्यक्तियों की मूल चिंता यह है कि वे ज्यादा पैसा या अन्य चीज प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। ये दोनों असंतुष्ट है जबकि संतुष्टि का आधार उनके पास पहले से मौजूद है। अगर एक को 50 हजार न मिले और दूसरे को मोनो मशीन न मिले, तब भी वे भूखे नहीं मरेंगे, फिर भी चिंतित हैं। जितना है उससे मध्यवर्गीय संतुष्ट नहीं है। ये इतना तक नहीं सोचेंगे कि समाज में एक बड़ी संख्या उन लोगों की भी है जिनकी

तुलना में हम काफी अमीर ठहरते हैं, लोगों के लिए तो खाने तक का प्रबंध नहीं होता है, इसलिए हमें दुःखी नहीं होना चाहिए। परसाई जी की दृष्टि में यह "पर्याप्त सम्पनता न होने का दुःख है।"[53] मध्यवर्ग का वास्तविक दुःख यही है। कुछ को छोड़ दिया जाय तो बाकी के मध्यवर्ग की यह मूल पीड़ा है और उसकी एक पहचान भी। ठीक ही विश्वनाथ त्रिपाठी मध्यवर्ग के इस तरह के दुःख को 'छद्म' दुःख की संज्ञा देते हैं।[54] यह मध्यवर्गीय दुकानदारों की 'पीड़ा' थी। असंतुष्टि की ठीक यही 'पीड़ा' नौकरीपेशा मध्यवर्ग में भी देखने को मिलती है। परसाई का एक व्यंग्य है– 'कोई सुनने वाला नहीं हैं'। इस व्यंग्य के एक नौकरीपेशा मध्यवर्गीय व्यक्ति का 'दुःख' यह है कि "साथ के लोगों का, बल्कि जूनियरों का प्रमोशन हो गया है, पर हम जहाँ के तहाँ हैं। दरख्वास्तें दीं, अफसरों से मिले, मगर कोई नतीजा नहीं। कोई सुनने वाला नहीं है।"[55] यहाँ मध्यवर्ग के चरित्र के एक अन्य पहलू का भी पता चलता है। प्रमोशन को लेकर यह व्यक्ति बहुत दुःखी है। शहर में भीषण दंगा हो गया था। बच्चे से लेकर बूढ़े तक की जबान पर दंगे की चर्चा थी, पर इस व्यक्ति की जबान पर ऐसे समय भी प्रमोशन की चर्चा थी। यह व्यक्ति मानने लगा था कि, "दुनिया में जो कुछ है, मुझे दुःख देने के लिए है। सब मुझ पर अन्याय करते हैं।"[56] यह नौकरीपेशा मध्यवर्गीय व्यक्ति ऐसा सोचता है, 'अपनी–अपनी बीमारी' व्यंग्य के दुकानदार, कम से कम ऐसा तो नहीं सोचते थे। चरित्र का यही पहलू यहाँ नया है, अलग है।

उच्च मध्यवर्ग की तुलना में निम्न मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति कमतर होती है, यह एक तथ्य है। उच्च मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग दोनों के ही मन में अपनी प्रतिष्ठा के प्रति गहरा आकर्षण होता है, पर क्या दोनों की आर्थिक स्थिति का अंतर उनके चरित्र में भी थोड़ा बहुत अंतर ला देता है? परसाई जी के व्यंग्यों में तो ऐसे संकेत मिलते हैं। उच्च मध्यवर्ग अपनी प्रतिष्ठा के प्रति कितना सचेत होता है, यह इस अध्याय के आरंभ में बताया जा चुका है। लेकिन निम्न मध्यवर्ग की इसी मामले में क्या स्थिति है, इसे परसाई जी के व्यंग्य 'आशंका–पुत्र' के माध्यम से देखा जाएगा। इस व्यंग्य के पांडेजी आबकारी विभाग में कार्यरत हैं। स्थिति यह है कि "पांडेजी के घर में छत तक सामान भरा है। वेतन कुल डेढ़ सौ है और रहता रईस की तरह है। तीन लड़के एंग्लो इण्डियन स्कूल में पढ़ते हैं, उनकी फीस ही पचास रुपये होती है। औरत के जेवर बनते ही जाते हैं।"[57] स्त्री की स्थिति यह है कि वह "जब बाहर निकलती है, तब स्त्री कम मालूम होती है, चलता–फिरता सर्राफा बाजार अधिक।"[58] मध्यवर्ग के बारे में कहा जाता है कि इस वर्ग में होने की बजाय दिखने पर ज्यादा जोर दिया जाता है, लेकिन यह बात पूर्ण रूपेण निम्न मध्यवर्ग पर लागू होती है। पाण्डेजी के पास पैसे की आवक कम है, पर खर्च ज्यादा करता है। पाण्डेजी की इस स्थिति को देखकर कहा जा सकता है कि वे कर्ज लेते हैं। इस बात का उनके किसी भी पड़ोसी को पता नहीं है। पड़ोसियों

के बीच उन्होंने अपनी एक 'इमेज' बना रखी है। पर यह कैसे संभव है कि परस्पर विरोधी इन स्थितियों ने पाण्डेजी के मन में किसी अन्य स्थिति को जन्म नहीं दिया होगा। जन्म दिया है। यह स्थिति है पांडेजी की भयग्रस्तता। वे किसी न किसी तरह के अनिष्ट की आशंका से भयभीत रहते हैं। भयभीत क्यों रहते हैं, इसका एक बड़ा कारण इस उद्धरण में देखा जा सकता है– "सुबह बड़ा व्यस्त और घबड़ाया रहता है। उसके घर व्यापारी आते हैं। कोई–कोई बाबा कपड़े में बही खाता बाँधकर बगल में दबाये आते हैं। पाण्डे आस–पास देखकर झट व्यापारी को अंदर कर लेता है। फिर भीतर बड़ी देर तक कानाफूसी होती रहती है।"[59] उद्धरण से साफ पता लगाया जा सकता है कि निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति पाण्डेजी का यह डर वास्तविकता के खुल जाने का है। पाण्डेजी ने लोगों के बीच अपनी विशिष्टता का प्रचार कर रखा है, पर उसे डर है कि लोगों को इस बात का पता न चल जाए कि वह ऋण में दबा हुआ है। इसलिए बही–खाता लेकर आने वाले व्यापारी को वह 'झट' घर के अंदर कर लेता है। यह निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति की भयग्रस्त मानसिकता है। इसके विपरीत उनके व्यंग्यों में उच्च मध्यवर्ग की यह स्थिति देखने को नहीं आती है। असलियत के खुल जाने से बचने के लिए किया गया यह प्रयास निम्न मध्यवर्ग की विशेषता है। परसाई का 'सदगुरू का कहना है' व्यंग्य भी मध्यवर्ग में प्रतिष्ठा के प्रति गहरे आकर्षण को दर्शाने वाला व्यंग्य है।

मध्यवर्ग में अंग्रेजी भाषा या उसके शब्दों के इस्तेमाल के प्रति भी गहरा आकर्षण है। अंग्रेजी भाषा के प्रति यह प्रेम मध्यवर्ग में उसके उदय के समय से ही देखा जा सकता है। अंग्रेजी भाषा के प्रति प्रेम आज और भी ज्यादा है। मध्यवर्ग व्यवहार में अंग्रेजी शब्दों का धड़ल्ले से इस्तेमाल करता है। कभी–कभी तो हिन्दी पीछे छूट जाती है और रह जाती है केवल अंग्रेजी भाषा। अनुभव बताता है कि ढेरों मध्यवर्गीय तो ऐसे हैं जो अपनी राष्ट्रभाषा के बोलने तक से परहेज करते हैं। इस संबंध में जो सबसे महत्वपूर्ण बात है, वह यह कि मध्यवर्ग की नजर में अंग्रेजी भाषा उनकी प्रतिष्ठा में, उनके विशिष्ट होने में चार चाँद लगाती है। परसाई जी के ऐसे बहुत से व्यंग्य देखे जा सकते हैं, जिनमें मध्यवर्गीय व्यक्ति अंग्रेजी भाषा का, अंग्रेजी शब्दों का खूब प्रयोग करते हैं, पर परसाई के व्यंग्य यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि मध्यवर्ग में भी उच्च मध्यवर्ग ही है जो ऐसा करता है। उनके व्यंग्यों में निम्न मध्यवर्ग व्यवहार में अंग्रेजी शब्दों का अत्यधिक प्रयोग नहीं करता है। परसाई के ऐसे व्यंग्यों में 'लघुशंका न करने की प्रतिष्ठा', 'रोजमर्रा का मामला', 'मानव सेवा के लिए', 'विश्व हिन्दी नौटंकी', 'संस्कृति की रक्षा', 'माना कि रहेंगे दिल्ली' आदि प्रमुख हैं। उच्च मध्यवर्ग की ऐसी सोच को जानने के लिए 'रोजमर्रा का मामला' व्यंग्य का यह उदाहरण काफी होगा– "प्रोफेसरों और रीडरों की एक 'कानफरेन्स' थी। 'कानफरेन्स' शब्द 'सम्मेलन' से लगभग दस गुना गरिमा वाला होता है, क्योंकि 'सम्मेलन' छोटे पढ़ाने वालों का होता है और 'सेमिनार'

तथा कानफरेन्स' बड़े पढ़ाने वालों का।''[60] इस उद्धरण से यह भी पता चलता है कि मध्यवर्ग के इस ज्यादा पैसे वाले हिस्से में अंग्रेजी के प्रति आकर्षण क्यों है? यह अंग्रेजी को अपनी प्रतिष्ठा या गरिमा बढ़ाने वाली भाषा के रूप में देखता है।

हरिशंकर परसाई ने अपने व्यंग्यों में भारतीय मध्यवर्ग में व्यापक स्तर पर घर करती जा रही संवेदनहीनता को भी रेखांकित किया है। उनका मानना है कि मध्यवर्ग में आदमियत खत्म होती जा रही है ,एक व्यक्ति–दूसरे व्यक्ति से कटता जा रहा है और मध्यवर्गीयों में अन्य लोगों के प्रति भावनात्मक लगाव भी नहीं रह गया है। परसाई की दृष्टि में ऐसा महानगरीय मध्यवर्ग में देखने को मिलता है। परसाई ने अपने व्यंग्यों में दिखाया है कि महानगरीय मध्यवर्ग इस स्तर तक पतनशील हो गया है कि अगर कोई व्यक्ति किसी संकट में पड़ा हुआ है तो लोग देखकर अपना रास्ता भले ही नाप लें, सहायता के लिए कतई तैयार नहीं होते हैं। 'भ्रष्टाचार के सेंपल' व्यंग्य में वे महानगरीय मध्यवर्ग के इस संवेदनहीन चरित्र को एक उदाहरण से दर्शाते हैं– '' कुछ दिनों पहले घरों में काम करने वाली एक औरत बहुत बीमार हो गई थी। उसे अस्पताल में भर्ती कराना था। बिना किसी अंग्रेजी बोलने वाले मध्यवर्गी की सहायता के उस गरीब को अस्पताल में भर्ती नहीं किया जाता। उसका परिवार बाहर गया था। उसके साथ उसका छोटा लड़का था। उसने 4–6 मध्यवर्गीयों को मदद के लिए कहा, पर हर एक ने जवाब दिया– जिसके घर में काम करती है वह भर्ती कराये न। हमें क्या मतलब?''[61] परसाई जी की दृष्टि में यह 'महानगरीय मध्यवर्ग का अमानवीकरण' है। यह व्यंग्य जून 1983 में लिखा गया था और तब से आज तक स्थिति और ज्यादा गंभीर हो गई। आज अमानवीकरण की प्रवृत्ति महानगरीय और नगरीय मध्यवर्ग में पराकाष्ठा को पहुँच गई है। कस्बाई मध्यवर्ग तक में यह प्रवृत्ति व्यापक स्तर पर देखी जा सकती है। परसाई ने इसी व्यंग्य में यह भी दिखलाया है कि कुछ मध्यवर्गीय ऐसे भी हैं जिनमें आदमीयत अभी खत्म नहीं हुई है।

परसाई जी ने मध्यवर्ग के महत्वाकांक्षी होने की प्रवृत्ति को भी रेखांकित किया है। उनका मानना था कि इस वर्ग से सम्बद्ध बहुत से व्यक्ति अपने मन में अपनी शुरुआती अवस्था में ही महत्वाकांक्षाएँ पाल लेते हैं। इन महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए वे जुट भी जाते हैं, पर हर एक की तो महत्वाकांक्षाएं पूरी होने से रही। बहुत से लोग इन महत्वकांक्षाओं को पूरा करने में असफल भी रहते हैं और जब ऐसे लोग असफल हो जाते हैं तो उनकी स्थिति, उनका आचरण और व्यवहार पहले जैसा नहीं रह जाता। उसमें परिवर्तन भी हो जाता है। इस परिवर्तन को परसाई जी ने एक उदाहरण से 'असहमत' व्यंग्य में दिखलाया है कि किस प्रकार एक व्यक्ति व्यंग्य के 'मैं' से बार–बार असहमत हो रहा है। महत्वाकांक्षा पूरी न करने वाला व्यक्ति कोई एक विषय बातचीत के लिए उठाता है। सामने वाला व्यक्ति जब कोई भी और किसी प्रकार

का जवाब देता है तो 'असहमत' उसके विरोध में बोलने लगता है। इस प्रकार 'मैं' के बार–बार 'असहमत' की बात से सहमत होनेपर भी 'असहमत' उसके विचारों से असहमत होता रहता है।

मध्यवर्ग के चरित्र के उस पहलू को भी परसाई ने अपने व्यंग्यों में जगह दी है, जो बताता है कि किस प्रकार एक मध्यवर्गीय व्यक्ति छोटी से छोटी और साधारण से साधारण बात को भी इतनी महत्वपूर्ण बात के रूप में देखता है जैसे यह कोई राष्ट्रीय महत्व की बात हो। परसाई का 'लघुशंका न करने की प्रतिष्ठा' व्यंग्य ऐसा ही है। संदर्भ है मिसेज शर्मा, जो शर्मा साहब की पत्नी हैं। शर्मा साहब को तरक्की प्राप्त करनी है। यह तरक्की बड़े साहब के खुश हुए बगैर संभव नहीं है। शर्मा साहब उन्हें खुश करने के लिए एक चमक–दमकदार पार्टी का आयोजन करते हैं। वहाँ अन्य मातहतों की बीबियाँ भी थीं। उनके सामने शर्मा साहब की बीबी अपने शिशु पुत्र की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए कहती हैं– "इसमें एक बात है। इसी छोटी उम्र में बहुत समझदार है। कभी गोद या बिस्तर में पेशाब नहीं करता। पेशाब लगी हो तो कोई इशारा कर देता है।"[62] यानी एक मध्यवर्गीय स्त्री की नजर में शिशु पेशाब न करके स्वयं के या अपनी मम्मी के कपड़े नहीं बिगाड़ता है तो, इससे वह 'समझदार' हो जाता है। 'सदगुरु' का कहना है' व्यंग्य में भी मध्यवर्ग की यही मानसिकता अभिव्यक्त हुई है। वहाँ एक 'साहब' लोगों के सामने "अपने कुत्ते की 'सेक्स लाइफ' का वर्णन कर रहे थे।"[63] यानी निहायत अगंभीर बातों को भी विशिष्टता का 'लुक' देने की प्रवृत्ति मध्यवर्ग में व्यापक स्तर पर है। मध्यवर्गीय व्यक्तियों द्वारा इस तरह की सामान्य सी बातों को असामान्य बनाकर पेश किए जाने के कारण ही परसाई जी को कहना पड़ा कि "इज्जत बड़ी मशक्कत लेती है। न जाने क्या–क्या करवाती है।"[64] यहाँ मध्यवर्ग के चरित्र के जिस पहलू को उजागर किया गया है, उसे स्वयं परसाई जी के ही शब्दों में इस प्रकार रखा जा सकता है– "इज्जतदार ऊँचे झाड़ की ऊँची टहनी पर दूसरे के बनाये घोसलें में अंडे देता है।"[65] इसके अतिरिक्त परसाई जी का 'लघु शंका न करने की प्रतिष्ठा' व्यंग्य मध्यवर्ग के खुशामदी और पार्टी प्रेमी चरित्र को भी दर्शाता है।

मध्यवर्ग से सम्बद्ध व्यक्तियों को पेशे के आधार पर दो भागों में बाँटा जा सकता है– एक नौकरी पेशा लोगों का वर्ग और दूसरा छोटे–छोटे व्यवसायियों और दुकानदारों का वर्ग। इनमें से नौकरी पेशा मध्यवर्ग का संबंध देश के प्रशासनतंत्र, विभागों और दफ्तरों से है। हरिशंकर परसाई ने नौकरी पेशा लोगों के भ्रष्ट आचरण को अपने बहुसंख्यक व्यंग्यों का विषय बनाया है। प्रशासन तंत्र में भ्रष्टाचार है, विभिन्न दफ्तरों में भ्रष्टाचार है और देश के अन्य विभिन्न विभागों में भ्रष्टाचार है। कोई भी विभाग भ्रष्टाचार रहित नहीं है। भ्रष्टाचार की संस्कृति का व्यवस्थापक विशुद्ध रूप से मध्यवर्ग है। नौकरीपेशा मध्यवर्ग परसाई के व्यंग्यों में घूसखोर वर्ग के रूप में सामने आया है,

कहीं–कहीं इस वर्ग का भ्रष्ट आचरण उसकी गैर जिम्मेदारी के रूप में उभरा है। मध्यवर्ग ही घूस देता है और मध्यवर्ग ही घूस लेता है। इस घूसखोर संस्कृति से कभी–कभी निम्नवर्ग का भी पाला पड़ता है और अपना काम करवाने के लिए उसे मजबूरी में घूस देनी ही पड़ती है। निम्नवर्ग जानता है कि रिश्वत दिये बगैर उसका कार्य संपन्न नहीं होगा। भ्रष्टाचार की संस्कृति अगर खत्म नहीं होती है तो उसका कारण भी मध्यवर्ग ही है। एक मध्यवर्गी व्यक्ति अपने दफ्तर में घूस लेता है और दूसरे दफ्तर में वह स्वयं दूसरे मध्यवर्गीय को घूस देता है। इस प्रकार मध्यवर्ग में घूस का यह कारोबार चलता है। हरिशंकर परसाई का 'भोलाराम का जीव' ऐसा ही व्यंग्य है, जिसमें दफ्तर के बाबू वर्ग में घूसखोरी के प्रति गहरी आस्था को दिखाया गया है। दफ्तर में कोई भी काम समय पर नहीं होता। बाबू वर्ग द्वारा सभी कार्य देरी से किए जाते हैं। और वो भी सचेत रूप से। इस प्रकार दफ्तर का बाबू वर्ग लालफीताशाही में विश्वास करता है। भोलाराम की मृत्यु हो चुकी है, पाँच साल से पेंशन नहीं मिली है। बहुत दरख्वास्तें दी गईं, पर कोई कार्य नहीं हुआ। भोलाराम की फाइल लालफीता बाँधकर कहीं डाल दी गई। व्यंग्य के अनुसार नारद जब सरकारी दफ्तर जाते हैं तो बाबुओं द्वारा उनसे रिश्वत माँगी जाती है। इस संबंध में सबसे महत्वूर्ण बात यह उभरकर आती है कि रिश्वत माँगने वाला कभी स्पष्ट शब्दों में यह नहीं कहता कि उसे रिश्वत चाहिए। रिश्वत के मामले में मध्यवर्ग बहुत सचेत होता है, वह सुन्दर भाषा का खेल खेलता है। यह उदाहरण देखिए– "उस बाबू ने उन्हें (नारद) ध्यानपूर्वक देखा और बोला– "भोलाराम ने दरख्वास्तें तो भेजी थीं, पर उन पर वजन नहीं रखा था, इसलिए कहीं उड़ गई होंगी।"[66] रिश्वतखोर बाबू द्वारा यहाँ एक अलग ही भाषा की निर्मिति की गई है। वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि सीधे–सीधे माँगी गई रिश्वत शर्म देती है, इसलिए वह ऐसी व्यंजनापरक भाषा का इस्तेमाल करता है, जिससे सामने वाले व्यक्ति को बुरा भी न लगे और उसकी लालसा उस तक पहुँच भी जाए। बाबू की उपर्युक्त बात पर नारद कहता है–" भई ये बहुत से 'पेपरवेट' तो रखें हैं। इन्हें क्यों नहीं रख दिया।"[67] अगर सामने वाला व्यक्ति (जिससे रिश्वत माँगी जा रही है) नारद जैसा हुआ, जो बाबू की उपर्युक्त बात को नहीं समझ सका तो फिर बाबू थोड़ा 'हिंट' देगा, जैसा इस व्यंग्य में दिया गया है– बाबू हँसा " आप साधु हैं, आपको दुनियादारी समझ में नहीं आती। दरख्वास्तें 'पेपरवेट' से नहीं दबतीं"[68] ये सारे उदाहरण बताते हैं कि रिश्वतखोर मध्यवर्गीय व्यक्ति रिश्वत के मामले में किस तरह का आचरण करता है। हर रिश्वतखोर मध्यवर्गीय व्यक्ति में चरित्र का यह पहलू हुआ ही करता है। रिश्वत लेने वाले मध्यवर्गीय व्यक्ति के चरित्र का एक अन्य पहलू इस व्यंग्य में उजागर हुआ है। मध्यवर्गीय व्यक्ति को जब तक 'ऊपरी आमदनी' नहीं मिल जाती, उससे पहले वह काम कराने आए व्यक्ति के साथ संयत बदतमीजी का व्यवहार करता है। यह उदाहरण

देखिए "नारद ने सोचा कि फिर यहाँ वजन की समस्या खड़ी हो गई। साहब बोले–"भई, सरकारी पैसे का मामला है। पेंशन का केस बीसों दफ्तरों में जाता है। देर लग ही जाती है। बीसों बार एक ही बात को बीस जगह लिखना पड़ता है, तब पक्की होती है।"[69] यह है संयत बदतमीजी यानी रिश्वत न मिलने से पहले काम कराने आए व्यक्ति को यह अहसास कराना कि आपका काम देरी से होगा या आपका काम मुमकिन नहीं है। इसका परिणाम यह निकलेगा कि काम कराने आया व्यक्ति स्वयं आगे से रिश्वत की माँग रखेगा। रिश्वत दिये जाने पर घूसखोर संयत बदतमीजी का व्यवहार छोड़ देता है और अब रिश्वत देने वाला व्यक्ति उसके लिए सम्मानपूर्ण व्यवहार का पात्र बन जाता है। नारद ने रिश्वत के रूप में जैसे ही अपनी वीणा दी, बड़े बाबू का उनके प्रति व्यवहार बदल जाता है। अब (नारद के लिए) "साहब ने प्रसन्नता से कुर्सी दी। वीणा को एक कोने में रखा और घंटी बजायी। चपरासी हाजिर हुआ।"[70] यह है एक घूसखोर मध्यवर्गीय व्यक्ति के व्यवहार में अचानक आया परिवर्तन। बहुसंख्यक नौकरीपेशा मध्यवर्गीयों के भ्रष्ट चरित्र का एक अन्य पहलू दफ्तर के बाबू वर्ग के एक व्यक्ति के माध्यम से परसाई ने अपने व्यंग्य 'शिकायत मुझे भी है' में बतलाया है। संदर्भ है– लोगों की शिकायत है कि 'वैज्ञानिक को देश में ही नौकरी और अनुसंधान की सुविधा क्यों नहीं मिली?' डॉ. खुराना भारत छोड़कर चले गए थे और उन्हें एक विदेशी की हैसियत से नोबेल पुरस्कार मिला। लोगों की शिकायत इसीलिए है। परसाई जी की यह शिकायत नहीं है। उनकी नजर में "यह शिकायत बेबुनियाद है। मैंने बड़े बाबू से पूछ लिया है। उन्होंने कहा है कि – वैज्ञानिक के पास 'एम्पलाइमेंट एक्सचेंज' का कार्ड था? मैंने कहा बहुत करके नहीं था। बड़े बाबू बोले– तो फिर कैसे नौकरी मिलती। कार्ड लेकर आता, तो मैं ही कहीं 'चिपका' देता।"[71] इससे पता चलता है कि किसी विभाग का एक मध्यवर्गीय व्यक्ति जो तत्संबंधी विभाग में उच्च पदस्थ है और इसी कारण जिसका अपने विभाग में एक रुतबा है, अपनी पद संबंधी हैसियत का किस तरह बेजा फायदा उठाता है। यह बेजा फायदा उठाया जाता है किसी को अपने ही दफ्तर या अन्य किसी जगह 'चिपका' कर या नौकरी दिलाकर। इस संबंध में बड़ी महत्वपूर्ण बात तो यह है कि 'चिपका' देने में यकीन करने वाले ऐसे मध्यवर्गीयों में किसी भी तरह के डर का भाव रत्ती भर नहीं होता है, बल्कि वे आत्मविश्वास से पूर्णतया लबरेज रहते हैं। उपर्युक्त उद्धरण में देखा जा सकता है कि बड़े बाबू 'चिपका' देने जैसी बात कहते हुए भी आत्मविश्वास से कितने भरे हुए हैं। बहुसंख्यक मध्यवर्गीयों के इसी तरह के भ्रष्ट आचरण को दर्शाने वाले परसाई के अन्य व्यंग्यों में 'ठिठुरता हुआ गणतंत्र', 'लड़ाई', 'सदाचार का ताबीज', 'जिसकी छोड़ भागी' आदि प्रमुख हैं।

मध्यवर्ग में अधिकांशतः शिक्षा प्राप्त लोग हैं। इस वर्ग के लोगों के पास इतनी आमदनी तो होती ही है कि वे अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा दिला सकें। यद्यपि मध्यवर्ग

का एक बड़ा हिस्सा आईआईटी और आईआईएम जैसे उच्च शिक्षण संस्थानों में पढ़ाई का खर्च वहन नहीं कर सकता है, क्योंकि इन संस्थानों में पढ़ाई बहुत खर्चीली है, फिर भी वह अपने बच्चे को अच्छी शिक्षा तो दिला ही सकता है। परसाई जी की चिंता यह थी कि पूर्णतया नहीं, तो बहुत कुछ आधुनिक शिक्षा प्राप्त करके भी यह वर्ग ढेरों मामलों में मध्यकालीन सोच से संचालित है। परसाई ने अपने बहुत से व्यंग्यों में मध्यवर्ग के रूढ़िवादी चरित्र और इस चरित्र के भी विभिन्न पहलुओं का उद्घाटन किया है। परसाई जी का ऐसा ही एक व्यंग्य है– 'संस्कारों और शास्त्रों की लड़ाई' । इस व्यंग्य में उन्होंने आधुनिक शिक्षा प्राप्त मध्यवर्ग की रूढ़िवादिता को व्यंग्य का विषय बनाया। आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने के कारण जहाँ मध्यवर्ग में नए संस्कार, नए विचार देखे जा सकते हैं, वहीं एकदम रूढ़िवादी विचार भी। कुछ मध्यवर्गीय व्यक्ति वैज्ञानिक दृष्टिकोण संपन्न होते हैं और लोगों के सामने उनका यह रूप प्रचारित भी होता है। लोगों के बीच वे वैज्ञानिक सोच के व्यक्ति के रूप में जाने जाते हैं, लेकिन परिवार के धार्मिक आयोजनों में वे अपनी वैज्ञानिक सोच गँवा बैठते हैं और एकदम रूढ़िवादी रूप में उतर आते हैं। परिवार के लोगों के सामने उनकी वैज्ञानिक सोच काम करना बंद कर देती है और जिस तरह से परिवार के व्यक्ति कोई काम करना चाह रहे हैं उसका विरोध किए बगैर अपने को वे उसी रूढ़िवादी स्थिति का हिस्सा बना लेते हैं। परसाई के व्यंग्य नायक 'मैं' के एक दोस्त हैं, जो आधुनिक सोच के व्यक्ति हैं, पर एक दिन वे "धोती पहने पालथी मारे सत्यनारायण कथा पर बैठे रंगे हाथों पकड़"[72] लिए गए। जब उनसे पूछा गया कि "झूठ नारायण यह तुम्हारी क्या हरकत है? (तो) उसने कहा– यार, 'मदर इन लॉ' (सास) ने बहुत जोर डाला था।"[73] अगर कोई ऐसा व्यक्ति जो अपनी सोच से एकदम रुढ़िवादी हो, तो समझ में आता है कि वह अपनी 'सास' का विरोध नहीं कर सका, लेकिन ऐसा व्यक्ति जो अपनी जिंदगी के ढेरो में मामले में आधुनिक वैज्ञानिक सोच से प्रेरित हो, तो उसका बिना विचार किए 'मदर इन लॉ' की बात मान लेना और अपने को कर्मकांडी आयोजन में सम्मिलित कर लेना समझ से परे है। यह स्थिति बताती है कि वैज्ञानिक सोच का मध्यवर्गीय व्यक्ति भी परिवार के मामलों में अपने आपको समर्पित कर देता है और किसी भी तरह का विरोध नहीं करता है। यह है एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण संपन्न मध्यवर्गीय व्यक्ति में विरोध का साहस न होना। ऐसे व्यक्ति "दुविधाग्रस्त अर्द्ध आधुनिक"[74] मध्यवर्गीय व्यक्ति हैं। यह एक मध्यवर्गीय व्यक्ति का चारित्रिक रूप है।

परसाई के व्यंग्यों में मध्यवर्गीय स्त्री के चरित्र के भी कुछ पहलू भी उभरे हैं। भारतीय समाज में स्त्रियों की क्या स्थिति है, इससे सभी सचेत व्यक्ति परिचित हैं, क्या निम्नवर्ग और क्या मध्यवर्ग– दोनों ही वर्गों में स्त्री की स्थिति ठीक नहीं कही जा सकती। परसाई के अनुसार " 'दाम्पत्य संहिता' का नियम 73 कहता है कि "पत्नी

अपना स्वतंत्र मत व्यक्त न करे, व्यक्त करना जरूरी हो, तो उसमें पति को शामिल करे।"[75] इस नियम को मानने वाली व इसका पालन करने वाली स्त्रियाँ मध्यवर्ग में देखी जा सकती है। आधुनिक शिक्षा प्राप्त मध्यवर्गीय स्त्रियों का भी अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता है। उनकी सोच का यह हिस्सा नहीं है कि वे अपना स्वतंत्र मत भी व्यक्त करें। ऐसी स्त्रियों में पति के प्रति परमेश्वर की भावना होती है। वे ऐसा कोई निर्णय नहीं लेती जिससे पति की भावना को ठेस पहुँचे। परसाई की दृष्टि में ऐसी स्त्रियों का "अपना भिन्न व्यक्तित्व तो दूर अस्तित्व तक नहीं हो पाता। वह पूरी तरह किसी का हिस्सा बनकर रह जाती हैं। बहुत सी स्त्रियाँ होती हैं जो उम्र और शिक्षा के बावजूद जीवित प्राणी न होकर किसी का 'लगेज' होती हैं। उनका अपना स्वर नहीं होता; वे सिर्फ प्रतिध्वनि होती है। बुद्धि, भावना, इच्छा तक अपनी नहीं होती। अगर उनसे पूछा– देवी जी आज मौसम कैसा है? तो वे आसमान की तरफ न देखकर उनकी तरफ देखेंगी, जिसका हिस्सा है। इस आशय से कि क्यों, बता दें कि नहीं। क्या बताएं? तुम्ही न इन्हें बता दो कि कैसा मौसम है।"[76] शिक्षित मध्यवर्गीय स्त्री के चरित्र का एक पहलू यह है, जिसके अनुसार स्त्री में स्वतंत्र विचार व्यक्त करने की कोई चेतना नहीं होती, कोई साहस नहीं होता, वे सिर्फ पुरुष की अनुगामिनी होती हैं। मध्यवर्गीय स्त्री के चरित्र का यह पहलू परसाई के 'सड़क बन रही है' व्यंग्य में आया है। मध्यवर्गीय स्त्री के चरित्र का एक दूसरा पहलू भी है जो इसके ठीक विपरीत है। चरित्र का यह दूसरा पहलू परसाई के व्यंग्य 'जिसकी छोड़ भागी' में अभिव्यक्त हुआ है। इस व्यंग्य की इस मध्यवर्गीय स्त्री किसी का 'लगेज' नहीं है। उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। वह पति को परमेश्वर नहीं मानती। उसके लिए अपनी इच्छा सबसे बढ़कर है। वह पुरुष की अनुगामिनी नहीं है। यह स्त्री बेहद स्वार्थी है, पर पुरुष की 'प्रॉपर्टी' नहीं है। वह पति बदलती रहती है, जिसके पास ज्यादा पैसा है, उसी की पत्नी बन जाती है और कम पैसे वाले पुरुष को छोड़ देती है।[77] यह मध्यवर्गीय स्त्री के चरित्र का दूसरा पहलू है।

इसी व्यंग्य में मध्यवर्गीय पुरुष का एक नया रूप उभरा है। यह वही पुरुष है जिसकी कम आमदनी की वजह से उसकी स्त्री उसे छोड़कर ज्यादा पैसे वाले पुरुष की पत्नी बन गई थी। परसाई जी की इस पुरुष के प्रति पूरी संवेदना है, क्योंकि "यह आदमी आमदनी नहीं बढ़ा सका, घूस लेना इससे बनता नहीं है।"[78] ढेरों घूसखोर मध्यवर्गीयों से यह मध्यवर्गीय व्यक्ति अलग है, पर इसके बेवकूफी से भरे आचरण से वे मध्यवर्ग के चरित्र के एक पहलू की तरफ संकेत कर देते हैं। इस मध्यवर्गीय के लिए स्त्री अभी भी 'इज्जत का सवाल' है। वह कहता है "मेरा तो जी होता है कि जाकर उस हरामजादी के कलेजे में छुरा घुसेड़ दूँ।"[79] यह व्यक्ति स्त्री को अपनी 'प्रॉपर्टी' समझता है, जबकि स्त्री इसकी 'प्रॉपर्टी' बनना ही नहीं चाहती है। परसाई जी लिखते हैं

"आखिर यह भी सच्चा भारतीय मर्द निकला। तलाक नहीं देगा, छुरा घुसेड़ेगा। यह समझता है कि कोई उसके घड़े को उठाकर ले गया है। यह उसे पत्थर से फोड़ना चाहता है। मैं इसमें पानी नहीं पिऊँगा तो तू भी नहीं पिएगा।"[80] ठीक यही स्थिति निम्न वर्गीय पुरुष की है, लेकिन यह व्यक्ति निम्न वर्गीय व्यक्ति से इस रूप में अलग हो जाता है कि इसने अच्छी शिक्षा प्राप्त की है तथा नौकरी करता है और इसलिए वह मध्यवर्गीय है। इस मध्यवर्गीय पुरुष में अपनी मानसिकता को बदलने की कोई इच्छा नहीं है। यह व्यक्ति 'स्त्री प्रॉपर्टी है' जैसे मध्यकालीन संस्कारों से अभी भी चिपका हुआ है।

स्त्री के प्रति मध्यवर्ग की सोच का एक रूप परसाई के व्यंग्य 'वो जरा वाइफ है न' में भी आया है। एक तरफ वे लोग हैं जिन्होंने इस तरह की आजादी अपने लिए प्राप्त कर रखी हैं और स्त्री को घर की चहारदीवारी तक सीमित कर रखा है। इन लोगों में से कुछ ऐसे लोग भी हैं जो कला, संस्कृति से संबंधित आयोजन करते हैं और केवल जो घर बैठकर मौज नहीं उड़ाते हैं। पर ऐसे लोग अपने लिए प्राप्त कर रखी स्वतंत्रता का एक बेहद छोटा अंश भी अपनी स्त्री के लिए सुरक्षित नहीं रखते हैं। ये वे लोग हैं जिन्होंने अपनी स्त्री को "मुरब्बा बनाकर घर में रख छोड़ा है।"[81] कुछ मध्यवर्गीय नाटक वगैरह में काम करते हैं। उनके पास नाटकों में स्त्री का पार्ट अदा करने के लिए कोई स्त्री नहीं है। यह उनकी कठिनाई है। जब उनसे कहा जाता है कि आप अपनी स्त्रियों को मंच पर क्यों नहीं लेकर आते, तो उनके पास सिवाय इसके कोई जवाब नहीं होता, कि 'वो जरा वाइफ है न'। यहाँ वही स्थिति है कि मध्यवर्गीयों के लिए स्त्री इज्जत की चीज बन चुकी है। अपनी बीबी के 'स्टेज' पर आ जाने से शायद इज्जत चली जाती हो। इसलिए यह दूसरों की बीबी चाहते हैं, जो 'स्टेज' पर स्त्री का पार्ट अदा कर सके। यह मध्यवर्ग की स्त्री के प्रति सोच है– अपनी स्त्री के प्रति अलग और दूसरे की स्त्री के प्रति अलग। मध्यवर्ग के रूढ़िवादी चरित्र के विभिन्न पहलू 'प्रेम प्रसंग में फादर', 'उपदेश', 'प्रेमपत्र और हेडमास्टर', 'बुद्धिजीवी', 'माना कि रहेंगे दिल्ली' आदि व्यंग्यों में भी देखे जा सकते हैं।

हरिशंकर परसाई के व्यंग्यों में मध्यवर्ग की तर्कहीनता उनकी चारित्रिक कमजोरी के रूप में उभरी है। यद्यपि मध्यवर्ग शिक्षित है, फिर भी ढेरों ऐसे विषय हैं जहाँ मध्यवर्ग अपने तर्कहीन व्यक्तित्व का परिचय देता है। बहुत बार वह तर्क पर भावनाओं को तरजीह देता है। कुछ ऐसी जगह जहाँ वह तर्क को पीछे धकेल देता है और भावना को आगे ले आता है, वहाँ उसका रूढ़िवादी चरित्र उभरता है। धर्म और समाज के मामलों में वह बहुत बार तर्क की बजाय भावना से संचालित होता है। ऊपर जहाँ मध्यवर्ग के रूढ़िवादी चरित्र को दर्शाया गया है, वहाँ मध्यवर्ग की तर्कहीनता को भी साफ देखा जा सकता है। एक प्रसंग था कि नाटक खेलने वाले कलाकारों के सामने कठिनाई यह थी

कि उन्हें स्त्री पार्ट अदा करने के लिए कोई स्त्री नहीं मिली। वे अपनी–अपनी स्त्रियों को स्टेज पर नहीं लाना चाहते और दूसरों की स्त्रियों की तलाश में हैं। उनसे पूछा जाना चाहिए कि भाई, आप दूसरों की बीबियों को क्यों मंच पर लाना चाहते हैं और अपनी बीबियों को क्यों नहीं? तो उनके पास कोई जवाब नहीं होगा, सिर्फ यह कहने के कि 'वो जरा वाइफ है न', लेकिन यह तो कोई तर्क नहीं हुआ। मध्यवर्ग की तर्कहीनता का दूसरा उदाहरण लीजिए– मध्यवर्ग विज्ञापन से बहुत प्रभावित होता है। विज्ञापन उसकी मानसिकता को बहुत जल्द अपनी गिरफ्त में ले लेता है। बहुत से मध्यवर्गीय उत्पाद को खरीदने में अपनी बुद्धि का किसी तरह का इस्तेमाल नहीं करते। विज्ञापन में सुंदरी कहती है– "मैं हमेशा ईडन बाग के सेब खाती हूँ। ये स्वादिष्ट और गुणकारी होते हैं। इनसे मेरी त्वचा मुलायम और चमकदार होती है।"[82] मध्यवर्गीय स्त्री की विज्ञापन पर नजर पड़ी तो बोल उठी– "सुनते हो, मैंने कहा, दफ्तर से लौटते हुए एक सेर ईडन के सेब जरूर लेते आना"[83] इस मध्यवर्गीय स्त्री ने कोई दिमाग नहीं लगाया, सिर्फ प्रभावित हो गई। क्यों हुई? कोई पता नहीं। तर्कहीनता का परिचय कभी–कभी वे लोग भी दे बैठते हैं, जिनका काम बगैर तर्क के चलता ही नहीं है। कुछ विश्वविद्यालयी अध्यापक इन्हीं लोगों में से हैं। इसके लिए परसाई का 'बुद्धिजीवियों से मुलाकात' व्यंग्य देखा जा सकता है।

अप्रतिरोध की मध्यवर्गीय संस्कृति पर भी परसाई ने खूब लिखा। उन्होंने बताया है कि शिक्षा प्राप्त करने के कारण मध्यवर्ग सचेत होता है और चूँकि वह सचेत होता है इसलिए उसका कर्त्तव्य बनता है कि वह गलत चीजों का प्रतिरोध करे। उसका मानना था कि राजनीतिक और सामाजिक मामलों में अधिकांशतः गलत होता रहता है। उसका विरोध किया जाना चाहिए था, पर मध्यवर्ग अपने इन दायित्वों से कन्नी काट लेता है। परसाई जी बखूबी जानते हैं कि यह वर्ग सुविधापूर्ण जीवन जीता है, इसे उन समस्याओं से कोई बहुत ज्यादा परेशानी नहीं उठानी पड़ती है और वह अपने आपको उन समस्याओं से अलग कर लेता है। परसाई का एक ऐसा ही व्यंग्य है 'वह क्या था'। इस व्यंग्य में एक नौकरीपेशा मध्यवर्गीय व्यक्ति हैं जो "जैसे जिये, वैसे ही मरे।"[84] एकदम शांत जिंदगी उन्होंने गुजार दी। कभी उन्होंने किसी चीज का विरोध नहीं किया। उनके सामने कोई समस्या आ खड़ी होती, तो वे उस समस्या से जूझने की बजाय अपने व्यक्तित्व में, अपनी मानसिकता में लचीलापन ले आते, लेकिन कोई प्रतिरोध नहीं करते। परसाई जी ने लिखा– "एक दिन मैंने कहा, "सुना है सरकार महँगाई भत्ते की यह किश्त नहीं दे रही है।" उन्होंने कहा–"हाँ जी सभी को नहीं दे रही है।" मैंने कहा, "आप लोग कुछ नहीं कर रहे हैं?" उन्होंने कहा "क्या करें जी? देने वाली तो सरकार है, हम तो लेने वाले हैं, जब सरकार देगी तब ले लेंगे।"[85] एक अन्य व्यंग्य 'गुड़ की चाय' में परसाई जी बताते हैं कि कैसे एक मध्यवर्गीय व्यक्ति अपने आपको व्यवस्था के

अनुरूप ढाल लेता है। कोई प्रतिरोध नहीं करता। यहाँ भी जिंदगी में अपना लिया गया वही लचीलापन है। परसाई जी लिखते हैं– "मध्यवर्गीय व्यक्ति शक्कर के अभाव में गुड़ की चाय पीता है, तो सोचता है, इसके आगे भगत सिंह का बलिदान कुछ नहीं है, अगर भारतवासी 1920 से 1930 तक गुड़ की चाय पीते तो, 1931 में ही देश आजाद हो जाता।[86] बुद्धिजीवी द्वारा 'सत्ता या दाता के हरम की रक्षा' की बात पहले की जा चुकी है। इन समस्याओं से मध्यवर्ग में कोई परेशानी नहीं होती। इन समस्याओं से परेशान होकर वह 'हाय–हाय' नहीं करता। वह 'हाय–हाय' करता है दूसरी अन्य चीजों के लिए। मध्यवर्ग की 'हाय–हाय' 'टेलीविजन की हाय–हाय' (व्यंग्य) है। जैसे यह कि 'हाय हमारे घर में टेलीविजन नहीं है।' परसाई ने लिखा है– "साधो, एक वर्ग ऐसा है जो कभी किसी चीज के लिए नहीं लड़ता। लड़ना इसके स्वाभाव में है ही नहीं। यह वर्ग केंचुए की तरह है। इसके रीढ़ की हड्डी नहीं होती। मेरुदंड विहीन वीरों का वर्ग है यह। यह जूतों पर सिर रखकर सुविधा लेने वाला वर्ग है। यह चूहे की तरह स्वस्थ जीवन मूल्यों को कुतरता है। यह दो मुंहा, दो रूपी होता है। समाज की किसी समस्या से इसे मतलब नहीं।"[87] स्वतंत्रता के बाद के समय में प्रतिरोध का नैतिक साहस मध्यवर्ग में देखने को नहीं मिलता, जबकि स्वतंत्रता प्राप्ति से ठीक पहले राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में, परसाई जी की दृष्टि में यह साहस था। वे उपनिवेशवाद के दौर के मध्यवर्ग से स्वतंत्र भारत के मध्यवर्ग को अलगाते हुए तुलसीदास (परसाई के 'तुलसीदास चंदन घिसै' व्यंग्य स्तम्भ के नायक भक्तिकालीन कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं) के मुख से कहलवाते हैं कि 1947 के स्वाधीनता संघर्ष से पहले "बड़े–बड़े बुद्धिजीवी, कवि, लेखक, कलाकार, डॉक्टर, वैज्ञानिक अपने आप स्वाधीनता संघर्ष में कूद जाते थे और जेल जाते थे... वे 'वंदेमातरम' और 'भारत माता की जय' बोलकर जेल चले जाते थे। अब ऐसा क्या हो गया कि आप बुद्धिजीवी लोग अपने आप कुछ नहीं करते।"[88] ऐसा भी नहीं है कि मध्यवर्ग में ऐसे लोग न हों जिनमें प्रतिरोध करने का साहस न होता हो, पर ऐसे मध्यवर्गीयों की संख्या अत्यल्प है। परसाई के व्यंग्यों में इसका भी जिक्र आता है, लेकिन स्वतंत्र भारत में मध्यवर्ग की सामाजिक सरोकारों के प्रति संवेदनशून्य प्रवृत्ति ही अधिक रही है। इसलिए पवन कुमार वर्मा ने लिखा कि आज के मध्यवर्ग की मुख्य प्रवृत्ति के तौर पर सामाजिक सरोकारों के प्रति संपूर्ण संवेदन शून्यता है।"[89]

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय मध्यवर्ग का जो रूप हरिशंकर परसाई ने देखा और जाना, उसे आक्रामक तेवर के साथ अपने व्यंग्यों में जगह भी दी। उनके व्यंग्यों में मध्यवर्ग के चरित्र के विभिन्न पहलू आए हैं। इनमें सकारात्मक भी हैं और नकारात्मक भी। परसाई मध्यवर्ग की चारित्रिक कमजोरियों को उद्घाटित करते हुए भी, इस बात को कतई नहीं भूलते कि मध्यवर्ग में ऐसे भी लोग हैं जिनसे सामाजिक संदर्भ में कुछ

आशा भी की जा सकती है। समाज में ऐसे मध्यवर्गीयों का अस्तित्व है, तभी तो वे उनसे आशा करते हैं; पर ऐसे मध्यवर्गीयों की संख्या अत्यल्प है। इस बात को भी वे अपने व्यंग्यों में रेखांकित करते हैं।

संदर्भ–ग्रंथ

1. परसाई रचनावली–1, संपादक– कमला प्रसाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण, जनवरी–2005, पृष्ठ–26–27
2. वही, पृष्ठ–26–27
3. वही, पृष्ठ –26
4. परसाई रचनावली–2 पृष्ठ –372
5. परसाई रचनावली–1, पृष्ठ –161
6. परसाई रचनावली–2, पृष्ठ –327
7. 'प्रभात खबर' पत्रिका, दीपावली विशेषांक–2005, प्रधान संपादक– हरिवंश, 'एलीटों के ग्लोबलाइजेशन का सच' (लेख) : अरुण कुमार, पृष्ठ –22, प्रभात खबर, राँची
8. परसाई रचनावली–1, पृष्ठ –57–58
9. वही, पृष्ठ –58
10. वही, पृष्ठ –58
11. वही, पृष्ठ –59
12. वही, पृष्ठ –59
13. परसाई रचनावली–3, पृष्ठ –245
14. वही, पृष्ठ –245
15. वही, पृष्ठ –245
16. वही, पृष्ठ –245
17. वही, पृष्ठ –245–246
18. वही, पृष्ठ –246
19. वही, पृष्ठ –236
20. वही, पृष्ठ –237
21. वही, पृष्ठ –237
22. वही, पृष्ठ –246
23. वही, पृष्ठ –246
24. परसाई रचनावली–1, पृष्ठ –103
25. परसाई रचनावली–3, पृष्ठ –45
26. परसाई रचनावली–1, पृष्ठ –48
27. वही, पृष्ठ –52
28. वही, पृष्ठ –53
29. वही, पृष्ठ –53

30. वही, पृष्ठ –143
31. वही, पृष्ठ –143
32. वही, पृष्ठ –143
33. वही, पृष्ठ –143–144
34. वही, पृष्ठ –146
35. वही, पृष्ठ –147
36. परसाई रचनावली–2, पृष्ठ –324
37. परसाई रचनावली–1, पृष्ठ –125
38. वही, पृष्ठ –126
39. वही, पृष्ठ –126
40. वही, पृष्ठ –127
41. परसाई रचनावली–3, पृष्ठ –173–177
42. वही, पृष्ठ –70
43. वही, पृष्ठ –287
44. परसाई रचनावली–1, पृष्ठ –303
45. वही, पृष्ठ –59
46. वही, पृष्ठ –59
47. परसाई रचनावली–3, पृष्ठ –339
48. परसाई कृत 'तुलसीदास चंदन घिसै' (व्यंग्य संग्रह), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण–2005, पृष्ठ –47
49. वही, पृष्ठ –48
50. परसाई रचनावली–1, पृष्ठ –47
51. परसाई रचनावली–3, पृष्ठ –145
52. वही, पृष्ठ –145
53. वही, पृष्ठ –146
54. विश्वनाथ त्रिपाठी कृत 'देश के इस दौर में' परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–1989, पृष्ठ –14
55. परसाई रचनावली–1, पृष्ठ –148
56. वही, पृष्ठ –148
57. परसाई रचनावली–2, पृष्ठ –169
58. वही, पृष्ठ –167
59. वही, पृष्ठ –169–170
60. परसाई रचनावली–3, पृष्ठ –67

61. परसाई रचनावली–4, पृष्ठ –287
62. परसाई रचनावली–1, पृष्ठ –164
63. परसाई रचनावली–3, पृष्ठ –131
64. वही, पृष्ठ –131
65. वही, पृष्ठ–131
66. परसाई रचनावली–1, पृष्ठ –171
67. वही, पृष्ठ –171
68. वही, पृष्ठ –171
69. वही, पृष्ठ –172
70. वही, पृष्ठ –172
71. परसाई रचनावली–3, पृष्ठ –320–321
72. वही, पृष्ठ –318
73. वही, पृष्ठ –318
74. वही, पृष्ठ –318
75. वही, पृष्ठ –318
76. वही, पृष्ठ –325
77. परसाई रचनावली–1, पृष्ठ –54–57
78. वही, पृष्ठ –54
79. वही, पृष्ठ –56
80. वही, पृष्ठ –56
81. परसाई रचनावली–3, पृष्ठ –106
82. परसाई रचनावली–2, पृष्ठ –330
83. वही, पृष्ठ –330
84. परसाई रचनावली–1, पृष्ठ –27
85. वही, पृष्ठ –29
86. परसाई रचनावली–3, पृष्ठ –303
87. परसाई रचनावली–5, पृष्ठ –176
88. परसाई कृत 'तुलसीदास चंदन घिसै', पृष्ठ –95
89. पवन कुमार वर्मा कृत 'भारत के मध्यवर्ग की अजीब दास्तान' पहला संस्करण–1999 (अनुवाद–अभय कुमार दुबे), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ –17

उपसंहार

हरिशंकर परसाई का महत्व अगर अति संक्षेप में बताना हो तो कहा जा सकता है कि उनमें 'एब्सर्ड' को पकड़ने की विलक्षण सामर्थ्य थी। सवाल यह है कि क्या 'एब्सर्ड' पकड़ने की अद्‌भुत क्षमता परसाई मात्र में थी, किसी अन्य रचनाकार में नहीं? इस सवाल का सीधा सा जवाब दिया जा सकता है कि यह सामर्थ्य उन्हीं में थी। लेकिन दूसरा सवाल यह कि परसाई जी की यह विलक्षणता किसी प्रकार की थी? इसका जवाब उनके व्यंग्य हैं। हम जानते हैं कि आज का दौर संवेदनहीनता का दौर है। बहुत कुछ हमारे आस–पास ऐसा घटता रहता है, जिसे ठीक नहीं का जा सकता है, पर हमें वह सब कुछ गलत नहीं लगता है। आश्चर्य है हमारे आस–पास बदबू फैली हुई है और हमें लग ही नहीं रहा है कि बदबू जैसी कोई चीज हमारे आस–पास है भी। क्या हमारी घ्राण–शक्ति कमजोर हो गई है? नहीं, हमारी घ्राण शक्ति कमजोर नहीं हुई है। उस बदबू के प्रति हमारा नजरिया बदल गया है। अब वह हमें बदबू नहीं लगती, सहज–सामान्य सी बात लगती है। हरिशंकर परसाई की महत्ता इस बात में निहित है कि उन्होंने अपनी विशिष्ट वक्र शैली से लोगों को महसूस कराया कि हमारे आस–पास कुछ और नहीं, बदबू ही है। अभिधापरक अर्थ में कही गई बात शायद लोगों पर उतना असर नहीं करती है, जितना किसी बात को विशिष्ट बनाकर कहने पर करती है। हरिशंकर परसाई इस बात को अच्छी तरह से जानते थे, इसलिए उन्होंने व्यंग्य को अपने विचारों के संप्रेषण का माध्यम बनाया। व्यंग्य तो अन्य रचनाकारों ने भी लिखे हैं, लेकिन हरिशंकर परसाई की बात ही दूसरी है। उन्होंने बात कहने के न जाने कितने प्रभावकारी ढंग बतलाए हैं। इसे उनके व्यंग्यों को पढ़कर ही जाना जा सकता है। इन विविध प्रभावकारी तरीकों में सामाजिक 'एब्सर्ड' परसाई की सर्जनात्मक शक्ति के साथ प्रकट हुआ है। परसाई की शैली में गजब का आकर्षण था। कभी भी पाठक के मानस में किसी एक भाव को ज्यादा देर तक बनाए रखने की कोशिश करते, पर ऐसा करुण स्थिति के समय ही देखने को मिलता है और कभी वे पाठक के भावों को जल्द–जल्द बदल देते हैं। पाठक की मनः स्थिति परसाई जी द्वारा निर्मित प्रसंगों पर आधारित होती है। दूसरे शब्दों में इसे भावों की नाटकीयता कह सकते हैं, जो बेहद असरकारी है। परसाई के व्यंग्यों की इस ताकत को पहचानकर ही डॉ. वीरभारत तलवार को यह कहना पड़ा कि 'परसाई ने आँखों में अंगुली डालकर लोगों को समाज की सच्चाइयों से परिचित कराया।' यही हरिशंकर परसाई के व्यंग्यों की विलक्षणता है। उन्होंने स्वतंत्र भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विसंगतियों पर व्यंग्य किया। उन्होंने युग की विकलांगता से पाठकों को परिचित करवाया।

यह इस लघु, शोध–प्रबंध का पहला पक्ष है, दूसरा पक्ष मध्यवर्ग से संबंधित है। मध्यवर्ग क्या है, इसमें कौन–कौन से पद और पेशा वाले लोग आते हैं, इस पर यहां

चर्चा की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रबंध के दूसरे अध्याय में इनकी चर्चा की जा चुकी है। यहां चर्चा स्वातंत्र्योत्तर भारतीय मध्यवर्ग पर होगी।

प्रत्येक देश के समाज में उसके मध्यवर्ग की महती भूमिका होती है, यह दूसरी बात है कि वह कितनी और कैसी भूमिका निभाता है। जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि शिक्षित मध्यवर्ग ने परसाई जी का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया है, परसाई का गुस्सा भी आक्रामकता के साथ इन्हीं पर ज्यादा फूटा है। इस शिक्षित मध्यवर्ग में एक बड़ी संख्या बुद्धिजीवियों की भी है। हरिशंकर परसाई ने मध्यवर्ग के संबंध में सर्वप्रथम अपना ध्यान उसकी मध्यवर्गीयता पर केंद्रित किया। अपनी बेहतर आमदनी के कारण जहां इस वर्ग के लोग सुविधापूर्ण जिंदगी व्यतीत करते हैं, वहीं इस सुविधापूर्ण जिंदगी को बरकरार रखने के लिए वे काफी संघर्ष भी करते हैं। इस वर्ग के लोग अपना ध्यान पूर्णतः अपने पर ही केंद्रित कर लेते हैं, इसका दुष्परिणाम यह निकलता है कि वे अपने आपको इस बात से अलग कर लेते हैं कि उनकी कुछ सामाजिक जिम्मेदारियां भी बनती हैं। शायद उन्हें लगता है कि दूसरी तरफ ध्यान देने से वे अपना बहुत कुछ खो बैठेंगे। यह 'बहुत कुछ' क्या है? यह है उनकी सुविधापूर्ण जिंदगी। इसी के लिए यह वर्ग संघर्ष करता है। लेकिन संघर्ष–संघर्ष में भी कितना अंतर होता है, यह समाज के निम्नवर्ग के संघर्ष को देखकर जाना जा सकता है। एक तरफ मध्यवर्ग का संघर्ष है, दूसरी तरफ निम्नवर्ग का। दोनों में बड़ा भारी अंतर है। निम्नवर्ग का संघर्ष सुविधाओं के लिए नहीं हो पाता है, उसका यह संघर्ष होता है अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए। अस्तित्व को बचाए रखने के लिए जरूरी होता है– अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हो। मध्यवर्ग को इन सारी चीजों का पता है, पर वह इस बारे में सोचता नहीं है। स्वतंत्रता के बाद से अब तक मध्यवर्ग की यही स्थिति रही है। इस बीच मध्यवर्ग में बेतहाशा वृद्धि हुई है, पर संस्कृति, सोच, आचरण और व्यवहार वैसा का वैसा ही है। मध्यवर्ग के इस रवैये से क्षुब्ध होकर ही पवन कुमार वर्मा ने मध्यवर्ग से संबंधित अपनी पुस्तक का शीर्षक ही व्यंग्यपरक रखा– 'द ग्रेट इंडियन मिडिल क्लास' (इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद– अभय कुमार दुबे ने 'भारत के मध्यवर्ग की अजीब दास्तान' नाम से किया है)। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय मध्यवर्ग के बारे में तृतीय अध्याय में बहुत कुछ बतला दिया गया है, यहां अब और कुछ बतलाना विचारों का दोहराव ही होगा।

मध्यवर्ग के संबंध में एक बात कह देना जरूरी होगा कि मध्यवर्ग में सुविधाभोग और गैर जिम्मेदाराना प्रवृत्ति इस स्तर तक बढ़ चुकी है कि भावी समय में यह कहां तक जाएगा, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। हालांकि परसाई जी अपने व्यंग्यों में बार–बार इस बात को रेखांकित करते हैं कि मध्यवर्ग में अभी भी ऐसे लोग हैं,

जिनसे सामाजिक संदर्भ में कुछ आशा की जा सकती है, पर ऐसे लोगों की संख्या अत्यल्प है।

संदर्भ–ग्रंथ सूची

आधार–ग्रंथ

हरिशंकर परसाई – परसाई रचनावली–1
परसाई रचनावली–2
परसाई रचनावली–3
परसाई रचनावली–4
परसाई रचनावली–5
परसाई रचनावली–6
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, जनवरी –2005
(संपादक– डॉ. कमला प्रसाद, धनंजय वर्मा, श्याम सुन्दर मिश्र, मलय और श्याम कश्यप)

" " तुलसीदास चंदन घिसै (व्यंग्य संग्रह)
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–2005

संदर्भ ग्रंथ

अलेक्जेंडर बुजुएव – पूँजीवाद क्या है
प्रगति प्रकाशन मास्को, 1987

इम्तियाज अहमद– हेल्मट रेफील्ड (संपादक) मिडिल क्लास वैल्यूज इन इंडिया एंड वेस्टर्न यूरोप
सोशल साइंस प्रेस, नई दिल्ली, 2001

ए. आर. देसाई –	भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि मैकमिलन, नई दिल्ली,1991
एमिल बर्न्स	मार्क्सवाद क्या है पीपुल्स पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली, 1999
कमला प्रसाद (सं.)	आँखन देखी वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1981
कार्ल मार्क्स– फ्रेडरिक एंगेल्स	संकलित रचनाएँ खंड–1, भाग–1 प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1978
,, ,,	संकलित रचनाएँ खंड–1, भाग–2 प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1978
,, ,,	संकलित रचनाएँ खंड–3, भाग–2 प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1978
के. दामोदरन	भारतीय चिंतन परम्परा केंद्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली
गुरुचैन सिंह	द न्यू मिडिल क्लास इन इंडिया, ए सोशियोलॉजिकल एनालिसिस, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 1985
जवाहर लाल नेहरू	मेरी कहानी (हिन्दी अनुवाद), सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1971
ज्योतिबा फुले	गुलामगीरी (हिन्दी अनुवाद– डॉ. विमल कीर्ति) संगीता प्रकाशन, दिल्ली, 2000

टी.बी. बॉटमोर	समाजशास्त्र (हिन्दी अनुवाद–गोपाल प्रधान) ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2004
ताराचंद	भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास खंड–2 प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1969
धीरेंद्र वर्मा तथ अन्य (सं.)	हिन्दी साहित्य कोश भाग–1 वाराणसी, ज्ञानमंडल लि. 2000
नामवर सिंह	आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998
पवन कुमार	भारत के मध्यवर्ग की अजीब दास्तान (अनुवाद–अभय कुमार दुबे) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,1999
पूरनचंद जोशी	अवधारणाओं का संकट, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995
" "	संस्कृति विकास और संचार क्रांति ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2001
भगवान प्रसाद	सोशियो–एकोनॉमिक स्टडी ऑफ अर्बन मिडिल क्लास स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रा.लि., दिल्ली, 1968
मैनेजर पांडेय	साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1989

ये. अगिवालोवा और ग. दोन्कोवा	मध्य युग का इतिहास (हिन्दी अनुवाद–नरेश वेदी) प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1989
ये. स्तेपानोवा	मार्क्स एक जीवनी, (हिन्दी अनुवाद) प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1989
रविन्द्र कुमार	आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास (हिन्दी अनुवाद– आदित्य नारायण सिंह) ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली,1997
राकेश वत्स (सं.)	आधुनिक काव्य विवेचना मानविकी विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 2001
राजेश कुमार	परसाई की पारसाई पराग प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989
रेमंड विलियम्स	की वर्ड्स : वोकेबलरी ऑफ कल्चर एंड सोसायटी फोंटाना प्रेस, लंदन, 1983
वाई.पी. छिब्बर	फ्रॉम कास्ट टू क्लास : स्टडी ऑन द इंडियन मिडिल क्लास एसोसिएटेड पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली, 1968
विजय लक्ष्मी पंडित	राजनीतिक अभिजन : भारतीय संदर्भ मैकमिलन नई दिल्ली, 1978
विपन चन्द्र (सं.)	आधुनिक भारत

अनामिका पब्लिसर्स, नई दिल्ली,2000

विश्वनाथ त्रिपाठी — देश के इस दौर में,
परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1989

वीर भारत तलवार — रस्साकशी,
सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002

शैलेन्द्र प्रसाद पाँथरी — आधुनिक भारतीय नवजागरण,
स्वराज प्रकाशन, दिल्ली,1984

श्याम कश्यप, कमला प्रसाद खगेन्द्र ठाकुर (सं.) — हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना,
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,1986

श्याम सुन्दर घोष — भारतीय मध्यवर्ग
बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना, 1982

श्यामाचरण दुबे — भारतीय समाज
(हिन्दी अनुवाद– वंदना मिश्र)
नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2001

सव्यसाची भट्टाचार्य — आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास (हिन्दी अनुवाद– डॉ. माहेश्वर)
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

सुमित सरकार — आधुनिक भारत
राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2001

सुरेश कांत — हिन्दी गद्य लेखन में व्यंग्य और विचार
राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, 2004

हजारी प्रसाद द्विवेदी — कबीर
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000

हरिशंकर परसाई — ऐसा भी सोचा जाता है
वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2001

पत्रिकाएँ

(संपादक)

अशोक वाजपेयी — बहुबचन
जनवरी–फरवरी–मार्च, 2002
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
वर्धा

महावीर अग्रवाल — व्यंग्य सप्तक : एक
जनवरी–जून 1999, अंक 41–42 आदर्श नगर,
दुर्ग (मध्य प्रदेश)

विजय मोहन सिंह — इन्द्रप्रस्थ भारती (त्रैमासिक) जनवरी–मार्च, 1993, हिन्दी अकादमी नई दिल्ली

सुरेश चंद शर्मा — आजकल
अप्रैल–1992, प्रकाशन विभाग नई दिल्ली

Jawaharlal Nehru University Library